

परिच्छेद सं० १०३६३.....
ग्रन्थालय, के. ए. डि. डि. संस्थान
बाराणसी, वाराणसी

COPYRIGHT REGISTERED.

1910.



THE WORKS OF
SRI SANKARACHARYA



VOLUME

1

SRI VANI VILAS PRESS

— SRIRANGAM —

परिग्रहण सं०...10363...
ग्रन्थालय, के. उ. ति. शि. संस्थान
सारनाथ, बाराबंसी



| | PAGE |
|-------------------------------|-------|
| BRAHMASUTRA-BHASHYA | |
| CHAPTER I. | 1-275 |
| PADA 1. | 1 |
| PADA 2. | 95 |
| PADA 3. | 145 |
| PADA 4. | 225 |





ब्रह्मसूत्रभाष्यम्

पृष्ठम्

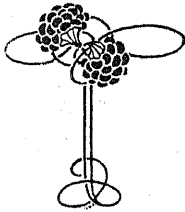
| | | | |
|---------------|-----|-----|-------|
| अध्यायः १. | ... | ... | १—२७५ |
| प्रथमः पादः | ... | ... | १ |
| द्वितीयः पादः | ... | ... | ९५ |
| तृतीयः पादः | ... | ... | १४५ |
| चतुर्थः पादः | ... | ... | २२५ |





BRAHMASUTRA

ॐ ॐ BHASHYA ॐ ॐ



Volume

I

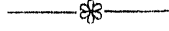


ब्रह्मसूत्रभाष्यम्

प्रथमो भागः

॥ श्रीः ॥

॥ विषयानुक्रमणिका ॥



पृष्ठम्

प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः पादः—स्पष्टब्रह्मलिङ्गवाक्यसमन्वयः १-९१

उपोद्घातः ... १—२

अध्यासो मध्येत्याक्षेपः ... १

स्वरूपनिमित्तफलैरध्यासोपव्याख्यानम् ... २

अध्यासलक्षणम् ... २

सत्यानृतमिथुनीकरणाक्षेपः ... २

लोकसिद्धाध्यासलक्षणाख्यानेनैव तत्प्रत्याख्यानम् २

अन्यथात्मख्यातिवादिनां मतम् ... २

अख्यातिमतम् ... २

शून्यमतम् ... २

संभावनाभाष्यम् ... २—३

अविषये नाध्यास इत्याक्षेपः ... २

अपरोक्षत्वनिरूपणेन तत्परिहारः ... २

प्रौढिवादेन अप्रत्यक्षेऽप्यध्यासनिरूपणेन तत्परिहारः २

प्रमाणभाष्यम् ... ३—४

| | | |
|--|------|---|
| ‘अहम्’ ‘मम’ इत्यध्यासस्य अविद्यात्वप्रसि- द्ध्या अध्यासत्वदृढीकरणपूर्वकम्, तन्मात्रव्यु- त्पादने बीजस्याप्युद्घाटनम् | | ३ |
| प्रत्यक्षानुमानादिभिरध्याससिद्धिः | ... | ३ |
| अध्यासस्यानर्थहेतुतां दर्शयितुं तद्विशेषोदाहरणम् | | ४ |
| विषयप्रयोजनदर्शनपूर्वकमारम्भसमर्थनम् | ... | ५ |

१. जिज्ञासाधिकरणम्—ब्रह्म जिज्ञासितव्यमिति ५—९

| | | |
|---|-----|---|
| अध्ययनानन्तर्यपक्षं कर्मावबोधानन्तर्यपक्षं च प्रति- क्षिप्य नियतपूर्ववृत्तसाधनचतुष्टयसंपत्त्यानन्तर्य- मेव अथ-शब्दार्थ इति व्यवस्थापनम् | ... | ६ |
| हेतुवाचकेन अतः-शब्देन, ‘तद्यथेह’ इत्यादिश्रुत्या लक्षणया लब्धात्मकसाधनचतुष्टयसंपत्तिपरामर्श- स्य उपपादनम् | ... | ७ |
| ब्रह्मजिज्ञासा-पदस्य शेषषष्ठीगर्भं विग्रहं निराकृत्य श्रुत्यनुगृहीतस्य कर्मषष्ठीगर्भस्य विग्रहस्य व्यव- स्थापनम् | ... | ७ |
| जिज्ञासापदावयवार्थः ; जिज्ञासितव्यमिति तव्य- प्रत्ययेन सन्-प्रत्ययस्य विचारलक्षकत्वसूचनपूर्वकं सूत्रवाक्यार्थश्च | ... | ८ |
| सिद्धयसिद्धिभ्यां जिज्ञास्यत्वं व्याहृतमित्याक्षिप्य | | |

| | | |
|--|-----|------|
| सामान्यज्ञानविशेषविप्रतिपत्तिप्रदर्शनपूर्वकं जि- ज्ञास्यत्वस्य समर्थनम् | ... | ८ |
| २. जन्माद्यधिकरणम्—ब्रह्मणो लक्ष्यता | ... | ९—१३ |
| मीमांसारम्भे लक्षणाभावाक्षेपपूर्विका सूत्रपातनिका | | ९ |
| सूत्रावयवविभजनम् | ... | ९ |
| जन्मनः आदित्वसमर्थनम् | ... | ९ |
| ‘अस्य’ ‘यतः’ इति पदयोरर्थं विशदय्य वा- क्यार्थप्रदर्शनम् | ... | १० |
| स्थितिकालेऽपि संभाव्यमानानां नैरुक्तभावविका- रणामग्रहणे हेतुं प्रदर्श्य, जन्मादित्रितयसूचनम् अभिन्ननिमित्तोपादानत्वसूचनाय— इत्यर्थत आ- वेदनम् | ... | १० |
| मात्तिप्रसाङ्क्षीत् लक्षणमेतदिति प्रधानपरमाणुसं- सार्यभावस्वभावानां जगत्कारणत्वविघटनम्... | | १० |
| लक्षणमिव अनुमानमपि स्वतन्त्रं प्रमाणमत्र सूत्र्य- तामिति शङ्कयाः— वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्था- न्येव सूत्राणि, अनुभवानुमानादीनां परम् अप्र- माणानामपि पुरुषतन्त्रानुभवानपेक्षधर्मजिज्ञासा- याम्, भवत्येवेह यथासंभवं प्रामाण्यमनुभवाव- सानवस्तुतन्त्रब्रह्मजिज्ञासायामिति सुहृद्भावेन उ- त्तराधिकरणार्थानुवादेन परिहारः | ... | ११ |

- लिलक्षयिषितवेदान्तवाक्यतन्निर्णयवाक्ययोरुपन्यासः १२
 पूर्वसूत्रसंगतिपूर्वकमुत्तरसूत्रावतरणम् ... १३
३. शास्त्रयोनिस्त्वाधिकरणम् ... १३—१४
- प्रथमवर्णकम्—ब्रह्मणो वेदकर्तृत्वम् ... १३—१४
 यस्य निःश्वसितं सर्वशकल्पा वेदाः, तस्य निरति-
 शयसर्वज्ञतेति किमु वक्तव्यम्—इति, पूर्वसूत्रो-
 पक्षिताया जगत्कारणस्य सर्वज्ञताया दृढीकरणम् १३
- द्वितीयवर्णकम्—ब्रह्मणः श्रुत्येकसमधिगम्यता ... १४
 जन्मादिसूत्रेण स्वतन्त्रमनुमानं सूत्रितमिति शङ्का-
 या व्युदासेन पृथगारम्भसाफल्यस्य समर्थनम् १४
४. समन्वयाधिकरणम् ... १४—३४
- प्रथमवर्णकम्—नित्यसिद्धब्रह्मपरा वेदान्ता इति १४—१७
 भूतं ब्रह्माभिदधतामपुमर्थोपदेशिनां वेदान्ताना-
 मानर्थक्यापत्तेः क्रियाविधिशेषत्वं वा उपासना-
 परत्वं वा भवेत्— इति शास्त्रप्रमाणकत्वमा-
 क्षिप्य उत्सूत्रं पूर्वपक्षप्रदर्शनम् ... १४
- सौत्रपदविभजनम् ... १५
 क्रियाविधिशेषत्वं निरस्य, उपासनापरत्वं केषां-
 चिन्न विरुध्यत इत्युक्त्वा, सर्वक्लेशप्रहाणरूप-
 पुमर्थप्रदर्शनपूर्वकं परिनिष्ठिते ब्रह्मणि वेदान्ता-
 नां प्रामाण्यस्य प्रतिष्ठापनम् ... १५

| | | |
|---|-----|----|
| द्वितीयवर्णकम्—साक्षादेव ब्रह्म समर्पयन्ति वेदा- | | |
| न्ताः इति | ... | १७ |
| अमृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विदधता वेदान्तेन प्र- | | |
| तिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते | | |
| इति वृत्तिकारमतम् | ... | १७ |
| कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यस्य समर्थनम् | ... | १९ |
| परिणाभिनित्यत्वकूटस्थनित्यत्वविवेचनेन ब्रह्मणः | | |
| कूटस्थनित्यतासमर्थनम् | ... | २० |
| मोक्षस्य नैयोगिकतानिवारकश्रुत्युपन्यासः | ... | २१ |
| ब्रह्मज्ञानस्य संपदादिरूपत्वविघटनम् | ... | २२ |
| मोक्षस्य उत्पाद्यत्वविकार्यत्वाप्यत्वसंस्कार्यत्वेषु क- | | |
| यापि विधया कार्याननुप्रवेशस्य समर्थनम् | ... | २३ |
| ज्ञानक्रिययोर्वैलक्षण्यप्रदर्शनम्.... | ... | २६ |
| द्रष्टव्यादिविधिच्छायवचनानां स्वाभाविकप्रवृत्ति- | | |
| विषयविमुखीकरणार्थत्वोपपादनम् | ... | २७ |
| ब्रह्मात्मावगतौ कृतकृत्यता अलंकार एवेति तस्यां | | |
| प्रमाणोपन्यासः | ... | २७ |
| जाग्रत्यनन्यशेषौपनिषदपुरुषपरे वेदान्ते, केवलव- | | |
| स्तुवादी वेदभागो नास्तीति प्राभाकरवचनं साह- | | |
| समात्रमिति प्रकृतदृढीकरणम् | ... | २९ |
| प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यतिरिक्तं भूतवस्तूपदेशं निवृत्त्युपदे- | | |
| शं च आलम्ब्य अतदर्थानामानर्थक्यं पुरुषार्था- | | |

| | | |
|--|-----|-------|
| नुपयोगिविषयमिति प्रतिपादनम् | ... | २९ |
| श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्शनादानर्थ- क्येशङ्कायाः परिहारः | ... | ३० |
| देहादौ आत्माभिमानस्य गौणतां प्राभाकरैरभ्यु- पगतां निरस्य तस्य मिथ्यात्वसमर्थनम् | ... | ३२ |
| आशङ्कितस्य मननादिविधानानर्थक्यस्य परिहारः —श्रुतमात्रस्य मननम्, नावगतस्येति | ... | ३३ |
| ब्रह्मणो धर्मानन्तर्भावे पृथक् शास्त्रारम्भस्य प्रमा- णत्वेनोपन्यासः | ... | ३३ |
| धर्मब्रह्मणोर्विरोधं संसूच्य प्रकृतानुकूलब्रह्मविद्राथा- भिर्निर्गमनम् | ... | ३४ |
| ५. ईक्षत्यधिकरणम् | ... | ३४—४९ |
| ब्रह्मणि समन्वयमेतावता समधिगतं ब्रह्मण्यसाधा- रणं व्युत्पादयितुमुत्तरारम्भ इति वादिविवादद- र्शनपूर्वकं भूमिकारचनम् | ... | ३४ |
| प्रधानमेव जगत्कारणमिति सांख्यानां पूर्वपक्षः | | ३५ |
| जगदुपादानवादिवेदान्तानां प्रधानपरतेति सांख्य- पूर्वपक्षं श्रुत्या निरस्यतः सिद्धान्तसूत्रस्य विभज- नम् | ... | ३६ |
| सांख्यीयप्रधानसर्वज्ञ्यप्रक्रियाविघटनम् | ... | ३७ |
| पूर्वपक्षबीजानुभाषणपूर्वकं ब्रह्मणः मुख्यसर्वज्ञत्व- समर्थनम् | ... | ३८ |

| | | |
|--|-----|----|
| ईश्वरस्य ज्ञानानुगुणहेत्वपेक्षानिरासः | ... | ३९ |
| संसारिणो देहाद्यपेक्षितृत्वाम्युपगमे अपसिद्धान्ता- शङ्काया निरासः | ... | ३९ |
| उपचारप्राये वचनादचेतनेऽपि प्रधाने भाक्तमीक्षि- तृत्वमिति प्राप्ते उत्तरसूत्रावतरणम् | ... | ४० |
| प्रधाने गौणतायाम् ईक्षतिशब्दस्य, 'अनेन जीवे- नात्मना' इति आत्मशब्देन जीवपरामर्शयोगात् अनाञ्जस्यप्रतिपादनम् | ... | ४१ |
| आत्मशब्दादित्यस्य व्याख्यानान्तरम् | ... | ४२ |
| आत्मशब्दस्य गौणवृत्त्या नानार्थकतया वा प्रधाने- ऽपि संभव इति शङ्कायाम्, प्रकृतं सद्गणिमान- मादाय मोक्षयितव्यस्य तन्निष्ठतामुपदिश्य मोक्ष- मुपदिशत् शास्त्रं श्रद्धतः अन्धगोलाङ्गूलन्याया- पत्त्या, संपत्पक्षे च मोक्षोपदेशानुपपत्त्या न प्रधा- नमात्मशब्दालम्बनम् इति परिहारः | ... | ४२ |
| शङ्कोत्तरत्वेन तन्निष्ठस्येति सूत्रव्याख्याने अरुच्या स्वतन्त्रहेतुपरतया व्याख्यानम् | ... | ४५ |
| स्थूलारुन्धतीन्यायेन पुनः शङ्कायां हेयत्वावचनात् सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपरोधाच्च परिहारः | ... | ४५ |
| जगत्कारणं प्रकृत्य श्रौतस्वपितिनिर्वचनाच्च चेत- नस्यैव जगत्कारणत्वसमर्थनम् | ... | ४६ |

| | |
|---|--------------|
| महच्च प्रामाण्यकारणमेतत्, यद्वेदान्तानां चेतन- कारणत्वे समानगतित्वमिति सर्वज्ञस्यैव जग- त्कारणत्वसमर्थनम् | ... ४८ |
| ‘स कारणम्’ इत्यादिश्रुतौ स्वशब्देनैव श्रुतत्वाच्च ब्रह्मैव कारणमिति निगमनम् | ... ४८ |
| सोपाधिकत्वनिरुपाधिकत्वाभ्यां द्विरूपतया अवग- म्यमानस्य ब्रह्मणः उपास्यतया ज्ञेयतया च वेदा- न्तेषूपदेश इति प्रदर्शनार्थतया उत्तरग्रन्थस्यो- त्थानसमर्थनम् | ४९ |
| ६. आनन्दमयाधिकरणम् | ५१—६३ |
| वृत्तिकारमतेन अधिकरणारचनम् | ५१—५८ |
| आनन्दमयो ब्रह्म वा, अमुख्य आत्मा वेति संशये, अमुख्य आत्मा आनन्दमयः, तत्प्रवाहपति- तत्वात्, प्रियाद्यवयवयोगात्, शारीरत्वश्रवणा- च्चेति पूर्वपक्षः | ... ५१ |
| परस्मिन् आनन्दशब्दाभ्यासेन सिद्धान्तः | ... ५२ |
| अमुख्यप्रवाहपतितत्वप्रियसंस्पर्शशारीरत्वश्रवणरू- पाणां पूर्वपक्षबीजानां निरसनम् | ... ५३ |
| मयटो विकारार्थत्वमवलम्ब्याक्षेपस्य प्राचुर्यार्थक- त्वप्रदर्शनेन निरासः | ... ५३ |
| आनन्दहेतुत्वव्यपदेशाच्च प्राचुर्यसमर्थनम् | ... ५४ |

| | | |
|---|-----|----|
| मन्तब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वात् पर एव आनन्दमय | | |
| इति प्रतिपादनम् | ... | ५५ |
| प्राक् शरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानाद्यनुपपत्तेरितरनिषेधः | | ५५ |
| जीवानन्दमययोः लब्धृलब्धव्यतया भेदेन व्यप- | | |
| देशाच्च इतरनिषेधः | ... | ५६ |
| गतिसामान्यप्रपञ्चनाय कामयितुत्वनिर्देशात् प्र- | | |
| धाननिषेधः | ... | ५७ |
| प्रबोधवतो जीवस्य मुक्तिशासनाच्च इतरनिषेधः | | ५७ |
| पुच्छब्रह्मवादमालम्ब्य वृत्तिकारमतदूषणम् | ... | ५८ |
| स्वाभिमतपुच्छब्रह्मवादानुरोधेन सूत्राक्षरयोजनम् | | ६२ |

७. अन्तरधिकरणम् ६३—६७

| | | |
|---|------|----|
| ‘अथ य एषोऽन्तरादित्ये’ ‘अथ य एषोऽन्त- | | |
| रक्षणि’ इति छान्दोग्यश्रुतौ किं विद्याकर्माति- | | |
| शयवशात्प्राप्तोत्कर्षः कश्चित्संसारी उपास्यत्वेन | | |
| विवक्षितः, उत नित्यसिद्धः परमेश्वरः इति | | |
| संशये, रूपवत्त्वाधारैश्वर्यमर्यादारूपाणां बहूनाम- | | |
| नैश्वर्यधर्माणां श्रवणात् न अक्ष्यादित्ययोरन्तः | | |
| परमेश्वरः— इति पूर्वपक्षवर्णनम् | ... | ६४ |
| अपहतपाप्मत्वसर्वात्मकत्वनिरङ्कुशलोककामेशि- | | |
| तृत्वादिकं श्रूयमाणं परमेश्वरमेव गमयतीति सि- | | |
| द्धान्तः | | ६५ |

| | | |
|---|------|-------|
| रूपवस्वोपदेशस्य साधकानुग्रहार्थता | ... | ६६ |
| आधारैश्वर्यमर्यादाश्रवणस्योपासनार्थता | ... | ६६ |
| आदित्याद्यभिमानिभ्योऽन्यस्यान्तर्यामिण उपदे- शाच्च परमेश्वरस्यैवोपास्यत्वम् | | ६७ |
| ८. आकाशाधिकरणम् | ... | ६७—७० |
| ‘अस्य लोकस्य’ इत्यादि छन्दोगवाक्ये आका- शशब्दः ब्रह्मपरः, भूताकाशपरो वेति संदेहे, प्रसिद्ध्यादिभिर्हेतुभिः भूताकाशस्यैव ग्रहणमिति पूर्वपक्षः | ... | ६८ |
| साकाशप्रपञ्चकारणत्वस्य सावधारणं श्रवणात् अ- न्येभ्यश्च ब्रह्मलिङ्गेभ्यः ब्रह्मण एव ग्रहणमिति सिद्धान्तः | ... | ६९ |
| प्रसिद्ध्या प्रथमप्रतीतस्यापि भूताकाशस्य वाक्य- शेषब्रह्मादपनय इति पूर्वपक्षहेतुनिरसनम् | ... | ७० |
| ९. प्राणाधिकरणम् | ... | ७०—७३ |
| आकाशन्यायस्य उत्तरवाक्ये अतिदेशेन, प्राण- स्यापि न ब्रह्मत्वमिति पूर्वपक्षः | ... | ७१ |
| प्राणनिमित्तौ सर्वेषामुत्पत्तिप्रलयावुच्यमानौ ब्रह्म- लिङ्गमिति निर्णयः | ... | ७२ |
| पूर्वपक्षयुक्तिनिरासः | ... | ७२ |
| वृत्तिकाराभिप्रेतस्य ‘प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः’ | | |

- इत्यादिवाक्योदाहरणस्य संशयाविषयत्वादनु-
दाहरणत्वप्रतिपादनम् ... ७३
१०. ज्योतिश्चरणाधिकरणम् ... ७३—८२
- ‘अथ यदतः परः...’ इत्यादि छान्दोग्यवाक्ये
आदित्यादि ज्योतिः परमात्मा वेति सांशयिको-
ऽर्थः ... ७४
- प्रसिद्धेः, दीप्तिश्रुतेः, द्युमर्यादत्वश्रुतेः, आधारबहु-
त्वश्रुतेः, कौक्षेये परस्य ज्योतिषोऽध्यासात्, अ-
ल्पफलश्रवणाच्च प्राकृतस्यैव ज्योतिषो ग्रहणमिति
पूर्वपक्षः ... ७४
- ज्योतिषो ब्रह्मणो ग्रहणम्, पादाभिधानात् ब्रह्मपर-
वाक्यसंदष्टत्वाच्च— इति सिद्धान्तः ... ७६
- प्रसिद्ध्यादिपूर्वपक्षहेतूनां निरसनम् ... ७६
- गायत्र्याख्यच्छन्दस एवाभिधानात् पूर्वस्मिन् वाक्ये
ब्रह्मणो न प्रकृतत्वमित्याक्षेपस्य, छन्दोद्वारेण त-
द्गते ब्रह्मणि चित्तसमाधानस्यान्यत्र दृष्टस्याभिधा-
नात् ब्रह्मण एव प्रकृतत्वमिति परिहारः— इति
गायत्रीशब्दस्य मुख्यार्थत्वे गायत्र्या ब्रह्मोपल-
क्ष्यत इत्येकदेशिमत्तम् ... ७९
- गायत्रीशब्दः संख्यासामान्यात् गौण्या वृत्त्या ब्रह्म-
ण्येव वर्तत इति विधान्तरम् ... ८०

| | | |
|---|--------------|----|
| भूतादीनां पादानां व्यपदिश्यमानानां छन्दस्यनुप- | | |
| पत्तेरपि ब्रह्मणः प्रकृतत्वम् | | ८० |
| आधारमर्यादयोर्लक्षणया व्याख्यानेन प्रत्यभि- | | |
| ज्ञासमर्थनम् | ... | ८१ |
| ११. प्रातर्दनाधिकरणम् | ८२—९१ | |
| कौषीतकिब्राह्मणगताया इन्द्रप्रतर्दनाख्यायिकाया | | |
| विषयस्य प्रदर्शनम् | ... | ८२ |
| प्राणशब्देन वायुमात्रम्, देवता, जीवः, ब्रह्म वा | | |
| अभिधीयते इति सांशयिककोटिचतुष्टयम् | ... | ८२ |
| मुख्यप्राणपक्षमनूय सूत्रमादाय प्राणो ब्रह्मेति प्रति- | | |
| ज्ञायाः, ब्रह्मप्रतिपादनपरत्वेनैव पदानां समन्व- | | |
| यदृष्टेरिति हेतोश्च विभागः | ... | ८३ |
| देवतापक्षस्य उत्थापनम्, तन्निरासश्च | ... | ८४ |
| अहंकारवादस्य देवतालिङ्गस्य, शास्त्रदृष्टयोपदेश | | |
| इति गतिप्रदर्शनम् | ... | ८६ |
| जीवमुख्यप्राणलिङ्गैर्ब्रह्मपरत्वाक्षेपः | ... | ८७ |
| त्रिविधोपासनप्रसक्तावर्थाकत्वभङ्गात्, ब्रह्मलिङ्ग- | | |
| वशात् प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्तेरन्यत्राश्रिताया | | |
| इहापि संभवात् परिहारः | ... | ८८ |
| जीवमुख्यप्राणलिङ्गानां ब्रह्मण्यनायासेन संगमनम् | | ८९ |
| प्राणधर्मेण प्रज्ञाधर्मेण स्वधर्मेण च ब्रह्मण एव | | |

एकमुपासनं त्रिविधमिह विवक्षितमिति वृत्तिका-
रभतेन सूत्रस्य व्याख्यानम् ... ९०

द्वितीयः पादः—अस्पष्टब्रह्मलिङ्गवाक्यानामुपास्य-
त्वेन ब्रह्मणि समन्वयः ९३—१४१

१. सर्वत्र प्रसिद्धाधिकरणम् ... ९५—१०४

पूर्वोपजीवनेन उत्तरोत्थाननिरूपणम् ... ९५

सर्वं खल्विदमिति छान्दोग्यवाक्ये शारीरो ब्रह्म
त्रा उपास्यत्वेनोपादिश्यते इति संशयः ... ९५

शारीर इति पूर्वपक्षः ... ९६

पूर्वपक्षे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य श-
मविधिपरत्वसमर्थनम् ... ९६

ज्यायस्त्वब्रह्मसंकीर्तनयोर्जीवे योजनम् ... ९७

लघुमप्यफलं रात्रिसत्त्वन्यायमुपेक्ष्य गुरुमपि सफ-
लं विश्रजिन्यायमाश्रित्य परमेव ब्रह्मोपास्य-
मिति सिद्धान्तः ... ९७

श्रुत्युपात्तसत्यसंकल्पत्वादीनां ब्रह्मण्येवोपपत्तेः त-
स्यैव उपास्यता ... ९८

मनोमयत्वादिजीवलिङ्गानां ब्रह्मण्युपपादनम् ... ९९

मनोमयत्वादीनां यथा ब्रह्मण्याञ्जस्यम्, तथा न
जीवे सत्यसंकल्पत्वादीनामिति प्रतिपादनम् ... ९९

कर्मकर्तृव्यपदेशशब्दभेदसंमृतिभ्यः शारीरप्रतिषेधः १००

- तात्त्विक एव भेदोऽत्र सूचित इति भ्रमनिरासेन
 अद्वैताविरोधसमर्थनम् ... १०१
- अर्भकौकस्त्वाणीयस्त्वयोर्जीवलिङ्गयोर्निचाद्यत्वापे-
 क्षतया अविरोधसमर्थनम् ... १०२
- ब्रह्मणोऽनिष्टसंभोगप्रातिशङ्कायाः, मिथ्याज्ञानक-
 ल्पितोपभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्टवस्तुनोऽसंस्पर्शमुप-
 पाद्य निराकरणम् ... १०३
२. अन्नधिकरणम् ... १०५—१०६
- ‘यस्य ब्रह्म च’ इत्यादिकाठकवाक्ये ओदनो-
 पसेचनसूचितः अत्ता किमग्निः, उत जीवः,
 अथवा परमात्मेति संशयः ... १०५
- अग्निः जीवो वा इति पक्षौ ... १०५
- उपलक्षितप्राणिनिकायमालातृत्वं परमात्मानमेव ग-
 मयति इति सिद्धान्तः ... १०५
- कर्मफलमभुञ्जानेऽपि परमात्मनि संहर्तृत्वसंभवस्य
 समर्थनम् ... १०५
- प्रकरणलिङ्गाभ्यां च परमात्मनोऽतृत्वसाधनम् ... १०६
३. गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ... १०६—११२
- कठवल्क्यामेव ‘ऋतं पिबन्तौ’ इत्यादिवाक्ये
 किं बुद्धिजीवौ निर्दिष्टौ, उत जीवपरमात्मानौ
 इति पक्षद्वयमुत्थाप्य फलभेदनिरूपणम् ... १०६

| | |
|--|----------|
| उभयोर्भोक्तृत्वायोगेन संशयस्याक्षेपः | ... १०७ |
| छत्रिन्यायेन वा, 'यः कारयति स करोत्येव' | |
| इति न्यायेन वा, करणे स्वातन्त्र्यविवक्षया वा | |
| समाधानम् | १०७ |
| बुद्धिक्षेत्रज्ञाविति पक्षस्य समर्थनम् | ... १०८ |
| संख्याश्रवणे समानस्वभावेष्वेव लोके प्रतीतिः वि- | |
| ज्ञानात्मपरमात्मनोरेव ग्रहणमिति सिद्धान्तः... | १०८ |
| गन्तृगन्तव्यत्वमन्तृमन्तव्यत्वविशेषणश्रवणस्य प्रक- | |
| रणस्य च सिद्धान्तहेतुतया उपन्यासः | ... १०९ |
| कृत्वाचिन्तया 'द्वा सुपर्णा' इत्यादौ अस्य न्याय- | |
| स्यातिदेशः | ... ११० |
| पैङ्गिरहस्यब्राह्मणमवलम्ब्य, 'द्वा सुपर्णा' इत्यस्या | |
| ऋचः, सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावविवेककृत- | |
| स्य कर्तृत्वस्य भोक्तृत्वस्य च काल्पनिकतया | |
| चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य ब्रह्मस्वभावताबोधने पर्यवसा- | |
| नस्य निरूपणेन कृत्वाचिन्तोद्धाटनम् | ... ११० |

४. अन्तराधिकरणम्

११२—११८

| | |
|--|---------|
| 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादिवाक्ये किं प्रतिबिम्बात्मा | |
| निर्दिश्यते, अथ विज्ञानात्मा, उत देवतात्मे- | |
| न्द्रियस्याधिष्ठाता, अथवेश्वर इति संशयः | ... ११२ |
| आद्यपक्षत्रयस्योपपादनम् | ... ११२ |

- आत्मत्वामृतत्वाभयत्वापहतपाप्मत्वसंयद्ब्राम्त्वादी-
नां गुणानां श्रूयमाणानां परमेश्वर एवोपपत्तेः
अन्तरः परमेश्वर इति सिद्धान्तः ... ११३
- स्थानादिव्यपदेशस्य उपलब्ध्यर्थतया अविरोधस-
मर्थनम् ... ११३
- ‘प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म’ इति प्रक्रान्तस्य
सुखविशिष्टस्य ब्रह्मण एवात्रापि ग्रहणं न्याय्यमिति
समर्थयितुं सप्रपञ्चमुपकोसलोपाख्यानव्याख्यानम् ११४
- ब्रह्मविद्विषयया प्रसिद्धया गत्या अक्षिस्थानस्य
ब्रह्मत्वनिर्णयः ... ११६
- छायात्मविज्ञानात्मदेवतात्मनां चक्षुषि नित्यभव-
स्थानासंभवात् अमृतत्वादिगुणानां तेष्वसंभवा-
च्च निषेधः ११७
५. अन्तर्याम्यधिकरणम् ... ११८—१२३
- अन्तर्यामिब्राह्मणे अधिदैवाद्यभिमानी देवतात्मा
कश्चित्, किं वा प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्यः कश्चिद्योगी,
किं वा परमात्मा, किं वा अर्थान्तरं किञ्चित्
इति संशये परमात्मपक्षं विहाय इतरेषां पक्षा-
णां समर्थनम् ... ११८
- सर्वविकारकारणं सर्वशक्तिः परमात्मैवान्तर्यामी-
ति सिद्धान्तः ... ११९

| | |
|---|---------|
| अदृष्टत्वादिव्यपदेशसंभवेन अन्तर्यामितया श- ङ्क्यमानस्य प्रधानस्य द्रष्टृत्वाद्यतद्धर्माभिलापात् निषेधः | ... १२० |
| द्रष्टृत्वादिधर्मयोगेन शारीरमन्तर्यामितयोद्भाव्य, काण्वमाध्यन्दिनानामन्तर्यामिणो भेदेन शारीरस्य आम्नानमवष्टभ्य तन्निरसनम् | ... १२२ |
| भेदेनेत्यादिसूत्रात् शारीरान्तर्यामिणोस्तात्त्विकभे- दव्यामोहस्य व्यपोहनम् | ... १२२ |

६. अदृश्यत्वाद्यधिकरणम् ... १२३—१३०

| | |
|---|---------|
| ‘अथ परा यया तदक्षरम्’ इत्यादिमुण्डकवाक्ये प्रधानशारीरपरमेश्वरेषु सांशयिकेष्वर्थेषु प्रधानप- क्षस्य समर्थनम् | ... १२३ |
| भूतयोनिः भूतनिमित्तं शारीर इति पक्षस्य प्रति- पादनम् | ... १२४ |
| सर्वज्ञत्वादिधर्मोक्तेरदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वर एवेति सिद्धान्तः | ... १२४ |
| सर्वज्ञश्रुतेर्भूतयोनिविषयत्वसमर्थनम् | ... १२५ |
| अक्षरविषयिण्याः परविद्येति समाख्यायाः परमे- श्वरपक्षानुगुण्यम् | ... १२५ |
| ब्रह्मविद्यासमाख्योपन्यासः | ... १२६ |
| अचेतनदृष्टान्तविरोधपरिहारः | ... १२७ |

- शारीराद्विलक्षणत्वेन विशेषणात्, प्रधानान्द्वेदेन
व्यपदेशाच्च शारीरप्रधाननिषेधः ... १२७
- ‘अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ’ इत्यादिसर्वकार्या-
त्मकरूपस्योपन्यासात्परमात्मैव भूतयोनिरिति वृ-
त्तिकारमतम् ... १२८
- वृत्तिकारमतदूषणपूर्वकं ‘पुरुष एवेदं विश्वं कर्म’
इत्यादिसर्वात्मकरूपोपन्यासात्परमात्मैव भूतयो-
निरिति भगवत्पादीयमतम् ... १२९
७. वैश्वानराधिकरणम् ... १३०—१४१
- वैश्वानरविद्यायां वैश्वानरशब्दस्य कौक्षभूतदेवजी-
वेश्वरेषु साधारण्यात् संशयस्योपपादनम् ... १३०
- कौक्षभूतदेवजीवपक्षाणां क्रमेणोपपादनम् ... १३१
- उपक्रमस्थयोः साधारणवैश्वानरात्मश्रुत्योः प्रथमश्रु-
तमुख्यत्रैलोक्यशरीरलिङ्गात् सर्वात्मकेश्वरपरत्व-
निर्धारणम् ... १३२
- प्रकृतश्रुत्यर्थनिर्णायकस्मृत्युपन्यासः ... १३३
- शब्दादीनां गतिं वक्तुं सिद्धान्तस्याक्षेपः ... १३४
- न तथा दृष्टीत्यादिसूत्रावयवविभागेन उक्ताक्षे-
पनिरासः ... १३५
- ‘पुरुषविधमपि’ इति सूत्रे पाठान्तरस्य व्याख्या-
नम् ... १३५

| | | |
|--|------|-----|
| देवतापक्षभूतपक्षयोर्निराकरणम् | ... | १३६ |
| विनैव प्रतीकोपाधिकल्पनाभ्यां साक्षादपि परमे- श्वरोपासनपरिग्रहे जैमिनिमते अविरोधसमर्थनम् | | १३७ |
| परमेश्वरपरिग्रहे प्रादेशमात्रत्वमभिव्यक्तिनिमित्त- मिति आश्रमरथ्यमतम् | ... | १३८ |
| अनुस्मरणानिमित्तमिति वादरिममतम् | ... | १३९ |
| संपत्तिनिमित्तमिति जैमिनिमतं समानप्रकरणवाज- सनेयिब्राह्मणानुगृहीतम् | | १३९ |
| अत्रैव जैमिनिमते जाबालश्रुतिसंवादः | ... | १४० |

तृतीयः पादः— अस्पष्टब्रह्मलिङ्गवाक्यानां ज्ञेय-

त्वेन ब्रह्मणि समन्वयः १४३-२२१

१. द्युम्वाद्याधिकरणम् १४५—१५२

| | | |
|---|-----|-----|
| ‘यस्मिन्द्यौः’ इत्यादिमुण्डकश्रुतौ ओतत्ववचना- दवगम्यमानं द्युम्वाद्यायतनं ब्रह्म अर्थान्तरं वेति संदेहः | ... | १४५ |
| पारवत्परसेतुश्रवणादर्थान्तरस्य परिग्राह्यत्वम् | ... | १४५ |
| तत्र प्रधानवायुशारीरपक्षाणामुपन्यासः | ... | १४५ |
| द्युम्वाद्यायतनं परमात्मेति सिद्धान्तः | ... | १४६ |
| ‘स्वशब्दात्’ इत्यस्य त्रिभिः प्रकारैः व्याख्यानम् | | १४६ |
| ‘सर्वं ब्रह्म’ इति सामानाधिकरण्यस्य प्रपञ्चविला- पनार्थत्वसमर्थनम् | ... | १४७ |

| | |
|--|-------------|
| सेतुशब्दं ब्रह्मेत्युपेत्य सेतुश्रुतेर्गतिः | १४७ |
| सेतुशब्दावात्मज्ञानवाग्बिमोकाविति विधान्तरेण | |
| सेतुश्रुतेर्गतिः | ... १४८ |
| दोषविमुक्तैर्वाग्बिमुक्तैश्चोपगम्यत्वव्यपदेशस्य हेत्व- | |
| न्तरस्योपन्यासः | ... १४८ |
| प्रधानवायुपक्षयोर्निरासः | ... १४९ |
| सर्वज्ञत्वाद्यसंभवात्, ज्ञेयज्ञातृभावेन व्यपदेशात् | |
| परमात्मप्रकरणाच्च विज्ञानात्मपक्षनिरासः | ... १५० |
| ‘द्वा सुपर्णा’ इति वाक्यमादाय तस्य जीवेश्वरपर- | |
| तायां सत्त्वक्षेत्रज्ञपरतायां च प्राणभृत्प्रतिषेधः | १५१ |
| गतार्थमेतदाधिकरणमिति शङ्कायाः परिहारः | ... १५२ |
| २. भूमाधिकरणम् | ... १५२—१५९ |
| ‘भूमा त्वेव’ इत्यादिच्छान्दोग्यवाक्ये प्राणपरमा- | |
| त्मनोः संशयस्य सहेतुकस्योपन्यासः | ... १५२ |
| भूयःप्रश्नप्रतिवचनपरंपरादर्शनात् प्राणो भूमा इति | |
| पूर्वपक्षः | ... १५३ |
| प्राणपक्षे भूमलक्षणस्य सुखत्वामृतत्वश्रवणस्य आ- | |
| त्मविविदिघ्नया प्रकरणोत्थानस्य च अविरोधस- | |
| मर्थनम् | १५४ |
| प्राणोपदेशानन्तरं भूम्न उपदिश्यमानत्वात् प्राणा- | |
| दर्थान्तरभूतः परमात्मैव भूमेति सिद्धान्तः | ... १५५ |

| | | |
|---|------|-----|
| हेत्वसिद्धिशङ्का | ... | १५५ |
| श्रुत्या प्रकरणबाधसमर्थनेन तस्याः परिहारः | ... | १५६ |
| प्राणपक्षे प्रकरणविरोधस्य दृढीकरणम् | | १५७ |
| भूमि श्रूयमाणानां धर्माणां परमात्मन्येवोपपत्तेः सिद्धान्तयुक्तेरुपन्यासः | ... | १५८ |

३. अक्षराधिकरणम् ... १५९—१६२

| | | |
|---|-----|-----|
| ‘ कस्मिन्नु ग्वल्वाकाशे ’ इत्यादिबृहदारण्यकवाक्ये रूढेरक्षरशब्द ओंकार एवेति पूर्वपक्षः | ... | १५९ |
| अम्बरान्तधृतेर्ब्रह्मणोऽन्यत्रासंभवात् परमात्मैव अ- क्षरशब्द इति सिद्धान्तः | ... | १६० |
| पारमेश्वरं प्रशासनमादाय प्रधानव्यावृत्तिः | ... | १६० |
| श्रौतस्य प्रधानादिव्यावर्तनस्य प्रदर्शनम् | ... | १६१ |

४. ईक्षतिकर्माधिकरणम् ... १६१—१६४

| | | |
|--|-----|-----|
| प्रश्रोपनिषद्वाक्यमादाय परिच्छिन्नफलश्रवणात् त्रि- मात्रप्रणवेऽभिध्यातव्यमपरं ब्रह्मेति पूर्वपक्षः... | ... | १६२ |
| तथाभूतमात्रकर्मकेक्षतिकर्मत्वेन वाक्यशेषे व्यपदे- शात् परमेव ब्रह्मेति सिद्धान्तः | ... | १६२ |
| वाक्यशेषे ‘ एतस्मात् जीवघनात् ’ इत्यस्य मत- भेदेन व्याख्यानम् | ... | १६३ |
| देशपरिच्छिन्नफलश्रवणस्य क्रममुक्त्यभिप्रायत्वेनो- पपादनम् | ... | १६४ |

५. दहराधिकरणम् ... १६४—१८०

छान्दोग्ये दहरे हृदयपुण्डरीके श्रूयमाणो दहर
आकाशः किं भूताकाशः, अथ विज्ञानात्मा,
अथवा परमात्मा इति संशयस्य सहेतुकमुपन्यासः १६४

भूताकाशपक्षः ... १६५

जीवपक्षः ... १६५

परमेश्वरपक्षः सिद्धान्तः ... १६६

भूताकाशपक्षनिरासः ... १६६

जीवपक्षनिरासः ... १६७

दहराकाशस्यान्वेष्टव्यत्वसमर्थनम् ... १६८

गतिशब्दयोर्हेतुत्वेनोपन्यासः ... १६९

पारमेश्वरस्य विधारणलक्षणमहिम्नः हेत्वन्तरतयोप-
न्यासः ... १७०

प्रसिद्धिप्रदर्शनम् ... १७१

वाक्यशेषे जीवपरामर्शस्य विघटनम् ... १७२

जीवाशङ्कायाः प्राजापत्यवाक्यात् पुनः समुत्थानम् १७३

आविर्भूतब्रह्मरूपे तु निरुपाधौ संभवन्तः अपहत-
पाप्मत्वादयो ब्रह्मण एव, न जीवस्य इति परि-

हारः ... १७४

कूटस्थनित्यस्य स्वरूपेणाभिनिष्पत्तौ शरीरात्समु-

त्थाने च विरोधसंभावनम् ... १७५

आविर्भावानाविर्भावस्वरूपसमर्थनेन संभावितवि-

| | | |
|---|------|---------|
| रोधस्य परिहारः | ... | १७६ |
| भेदमिथ्यात्वम् | ... | १७६ |
| प्राजापत्यवाक्यसंदर्भविमर्शेन भेदमिथ्यात्वस्य सम- र्थनम् | ... | १७६ |
| श्रुतेरेकदेशिव्याख्या, तन्निरासश्च | ... | १७८ |
| जैवं रूपं पारमार्थिकमिति मतान्तरस्य शारीरकसं- श्लेषेण निरसनम् | ... | १७८ |
| परमेश्वरवाक्ये जीवमाशङ्क्य व्यावर्तयन् सूत्रकारः परस्य जीवादन्त्यत्वं द्रढयति, न तु जीवस्य पर- स्मादन्त्यत्वं प्रतिपिपादयिषति इति आत्मैकत्वे शास्त्रतात्पर्यस्य समर्थनम् | ... | १७९ |
| जीवपरामर्शस्य अन्यार्थताप्रदर्शनम् | ... | १७९ |
| निन्वाद्यत्वापेक्षमल्पत्वमित्यस्य स्मरणम् | | १८० |
| ६. अनुकृत्यधिकरणम् | ... | १८१—१८३ |
| ‘न तत्र सूर्यः’ इत्यादिमुण्डकवाक्ये किं तेजोधा- तुः कश्चित्, उत प्राज्ञ आत्मेति विचिकित्सा- याम्, तेजोधातुरिति पूर्वपक्षः | | १८१ |
| अनुमानं प्राज्ञ एवावकल्पते इति सिद्धान्तः | ... | १८१ |
| ‘तस्य च’ इति सूत्रावयवविभजने सर्वशब्दस्य प्रकृतसूर्यादिविषयतया असंकुचद्वृत्तितया च द्विधा व्याख्यानम् | ... | १८२ |

पूर्वपक्षजीवातुं सतिसप्तमीपक्षं निरस्य विषयसप्त-
मीमादाय 'न तत्र' इत्यादिश्रुतेर्योजनम् ... १८३
विषयसप्तमीपक्षनान्तरीयकणिजध्याहारानुग्राहक-
स्मृत्युपन्यासः ... १८३

७. प्रमिताधिकरणम् ... १८४—१८६

काठकवाक्ये अङ्गुष्ठमात्रः, जीवः, ईशो वेति सं-
शये, परिमाणोपदेशात् स्मृतिसंवादाच्च जीव
इति पूर्वः पक्षः ... १८४
'ईशानो भूतभव्यस्य' इति श्रुतेः, प्रकरणाच्च,
अङ्गुष्ठमात्रपरिमितः परमात्मैवेति सिद्धान्तः ... १८४
मनुष्याधिकारत्वात् शास्त्रस्य मनुष्यहृदयावस्थाना-
पेक्षमङ्गुष्ठमात्रत्वमिति परिमाणोपदेशोपपादनम् १८५
अङ्गुष्ठमात्रपुरुषस्य जीवत्वेऽपि वाक्यस्य परार्थ-
तायाः समर्थनम् ... १८६

८. देवताधिकरणम् १८६—२०८

प्रसङ्गात् देवानामपि अर्थित्वाद्यधिकारकारणसं-
भवात् ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति सिद्धान्ते-
नोपक्रमः ... १८६
'न देवानां देवतान्तराभावात्' इत्यादिशाबर-
वाक्यस्य विद्यातोऽपनयनम् ... १८७

| | |
|---|---------|
| देवाद्यधिकारे अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिविरोधस्य परिहारः | १८७ |
| देवादीनां विग्रहवत्त्वाभ्युपगमः योग्यानुपलब्धि- पराहत इति श्रुतिसमवायिदेवतावादिनामाक्षेपः | १८७ |
| श्रुतिस्मृतिभ्यो देवतात्मनोऽनेकस्वरूपप्रतिपत्तेः प- रिहारः | ... १८८ |
| अनेकप्रतिपत्तेरित्यस्य अनेकत्र युगपदङ्गभावगम- नस्येत्यपरा व्याख्या | ... १८९ |
| विग्रहवत्त्वे औत्पत्तिकशब्दार्थसंबन्धविरोधाशङ्का | १८९ |
| देवादिकस्य जगतः शब्दप्रभवत्वेन परिहारः... | १९० |
| पुनरत्रोक्तविरोधतादवस्थस्य ब्रह्मप्रभवत्वविरोध- स्य च संभावनम् | ... १९० |
| आकृतिशक्तिवादेन तादवस्थशङ्कायाः परिहारः | १९० |
| इन्द्रादिशब्दाः स्थानविशेषसंबन्धनिमित्ता इति पक्षान्तरेण तादवस्थशङ्कायाः परिहारः | ... १९१ |
| शब्दस्य निमित्तत्वसमर्थनेन ब्रह्मप्रभवत्वविरोध- परिहारः | ... १९१ |
| शब्दपूर्वकसृष्टौ श्रुतिस्मृत्युपन्यासः | ... १९१ |
| देवानां वाचकशब्दप्रभवत्वप्रसङ्गात् वाचकशब्द- स्वरूपचिन्ता | ... १९१ |
| वर्णपक्षदूषणेन स्फोटवादोत्थापनम् | ... १९२ |
| वर्णपक्षदोषाणां स्फोटवादे असंस्पर्शसमर्थनपूर्व- कम् अनुसंहारबुद्धेः स्फोटप्रमाणतथोपन्यासः... | १९३ |

| | | |
|--|------|-----|
| वर्णा एव तु शब्द इत्युपवर्षमतम् | ... | १९३ |
| प्रत्यभिज्ञानबलात् वर्णव्यक्त्येकत्वनित्यत्वसमर्थनम् | | १९३ |
| वर्णविषयकभेदप्रत्ययस्य व्यञ्जकवायुरूपोपाधिनि- बन्धनतया निर्वाहः | ... | १९४ |
| व्यञ्जकवायूनामश्रावणत्वात् तद्धर्माणामश्रावणत्वे- नापरितोषात् ध्वनीनामुपाधित्वनिरूपणम् | ... | १९५ |
| स्फोटसाधकत्वेनाभिमतानुसंहारबुद्धेः वर्णातिरि- क्ताविषयकत्वसमर्थनम् | | १९५ |
| अनेकस्याप्यनुसंहारबुद्धेः सेनावनादिबुद्धिदृष्टान्तेन समर्थनम् | ... | १९६ |
| एकस्मृतिसमारोहिणां वर्णानां क्रमाक्रमविपरीतक्र- मप्रयुक्तानामभेदापादनस्य यथाप्रज्ञातसामर्थ्ये वर्णानां बोधकत्वनिरूपणेन विघटनम् | ... | १९६ |
| स्फोटकल्पनायां गौरवाविष्करणम् | ... | १९६ |
| अथापि नामेत्यादिभाष्येण उपवर्षमतेऽप्यनास्था- विष्करणपूर्वकं वर्णानामनित्यत्वेऽपि अनादिव्य- वहारसमर्थनेन देवादीनां शब्दप्रभवत्वस्य नि- गमनम् | ... | १९७ |
| देवादीनां वेदप्रभवत्वेन वेदनित्यत्वस्य दृढीकरणम् | | १९७ |
| महाप्रलये अभिधानाभिधेयविच्छेदात् संबन्धनित्य- त्वविरोधतादवस्थाशङ्का | ... | १९८ |
| सप्रपञ्चं प्रपञ्चानादित्वव्यवस्थापनेन परिहारः | ... | १९८ |

| | |
|---|----------|
| मध्वादिचिन्त्यास्वसंभवात् ब्रह्मविद्यायामपि देवादी- | |
| नामनधिकार इति जैमिनिमतम् | ... २०२ |
| ज्योतिर्मण्डलेषु देवताशब्दप्रसिद्धेरप्यनधिकारः | २०३ |
| देवाद्याधिकारस्य अप्रामाणिकत्वशङ्का | ... २०३ |
| देवतादिव्यामिश्रविद्यास्वनधिकृतानामपि देवादी- | |
| नां शुद्धब्रह्मविद्यायामधिकार एवेति बादरा- | |
| यणमतम् | २०४ |
| देवताशब्दनां ज्योतिर्मण्डलप्रसिद्धेरुत्तरम् | ... २०५ |
| मन्त्रार्थवादादीनां प्रामाण्यविचारः | ... २०५ |
| अनुवादगुणवादविद्यमानार्थवादरूपेण अर्थवादा | |
| नां त्रिधा विभजनम् | ... २०६ |

९. अपशूद्राधिकरणम् २०९—२१३

| | |
|--|---------|
| अवान्तरसंगतिपूर्वकमधिकरणतात्पर्यस्य वर्णनम् | २०९ |
| अधिकारकारणसंभवात्, 'अहं हारेत्वा शूद्र' | |
| इति श्रौतलिङ्गात्, विदुरादिदृष्टान्ताच्च विद्यायां | |
| शूद्रस्य अधिकार इति पूर्वपक्षः | ... २०९ |
| शूद्रस्य न अधिकार इति सिद्धान्तः | ... २०९ |
| तस्य अधिकारकारणसंपत्तिविघटनम् | ... २०९ |
| संवर्गविद्यागतशूद्रशब्दस्य असाधकत्वप्रदर्शनम् | २१० |
| सूत्रावयवविभजनेन शूद्रशब्दस्य रूढ्यसंभवात् | |
| योगमाश्रित्य अधिकृतविषयतया योजना | ... २१० |

- चैत्ररथेनाभिप्रतारिणा क्षत्रियेण समाभिव्याहारा-
 लिङ्गात् जानश्रुतेः जातिशूद्रत्वनिराकरणम् ... २११
- विद्याप्रदेशेषूपनयनादिसंस्कारपरामर्शाच्च शूद्रस्य
 नाधिकारः ... २१२
- सत्यवचनेन अशूद्रत्वनिर्धारणपूर्वकं गौतमस्य जा-
 बालानुशासनप्रवृत्तेः लिङ्गान्तरस्योपन्यासः ... २१२
- वेदश्रवणादिषु शूद्रप्रतिषेधकस्मृत्युपन्यासः ... २१२
१०. कम्पनाधिकरणम् ... २१३—२१६
- ‘यदिदं किञ्च’ इत्यादिकाठकवाक्यमुदाहृत्य वि-
 चारोपक्रमः ... २१३
- तत्र प्राणो वज्रं च, वायुः अशनिश्चेति पूर्वपक्षो-
 द्भावनम् ... २१४
- पूर्वोत्तरालोचनाद्ब्रह्मैवेति सिद्धान्तः ... २१४
- प्राणवज्रशब्दयोः ब्रह्माणि संघटनम् ... २१५
११. ज्योतिरधिकरणम् ... २१६—२१७
- छान्दोग्ये प्रजापतिविद्यायां परं ज्योतिः सूर्यमण्ड-
 लमिति पूर्वपक्षः ... २१६
- ब्रह्मणः प्रकरणार्थत्वसमर्थनेन सिद्धान्तः ... २१७
१२. अर्थान्तरत्वादिन्यपदेशाधिकरणम् ... २१७—२१८
- ‘आकाशो वै नाम’ इति छान्दोग्ये श्रुतं वियदिति
 पूर्वपक्षः ... २१७

नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूताकाशव्यपदेशात् ब्रह्मैवेति
सिद्धान्तः ... २१८

१३. सुषुप्त्यधिकरणम् ... २१८—२२१

बृहदारण्यके 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः'
इति वाक्ये आदिमध्यावसानेषु संसारप्रतिपाद-
नात् विज्ञानमयो जीव एवेति पूर्वपक्षः ... २१८
मुमुक्षुत्वान्तौ च शरीरान्द्वेदेन व्यपदेशात् पर-
मेश्वर एवेति सिद्धान्तः ... २१९
आदिमध्यावसानानां परमेश्वरपक्षानुगुण्यसमर्थनम् २२०
असंसारिपरपत्यादिशब्दानां च हेत्वन्तरतयोपन्यासः २२१

चतुर्थः पादः— अव्यक्तादिसंदिग्धपदमात्रसम-

न्वयः ... २२५—२७५

१. आनुमानिकाधिकरणम् ... २२५—२४०

वृत्तसंकीर्तनपूर्वकं वर्तिव्यमाणसंदर्भतात्पर्यम् ... २२५
महतः परमव्यक्तं प्रधानमिति प्रधानस्य अशब्द-
त्वनिरासेन पूर्वपक्षः ... २२५
अव्यक्तशब्देन प्रधानप्रत्यभिज्ञानिरासः ... २२६
प्रकरणनिरूपणेन अव्यक्तशब्देन रथरूपकविन्य-
स्तशरीरग्रहणस्य समर्थनम् ... २२७

| | |
|---|---------|
| रथादिरूपककल्पनायाः प्रतिपत्तिसौकर्यार्थत्वप्रदर्श- नम् | ... २२९ |
| काठकग्रन्थस्य प्रत्यग्रहतात्पर्यग्राहकलिङ्गस्य प्रद- र्शनम् | ... २२९ |
| स्थूले शरीरे अव्यक्तशब्दस्य अश्लेष इति पूर्वप- क्षिणोऽनुशयबीजस्य निराकरणम् | ... २३० |
| अपसिद्धान्तशङ्का | ... २३० |
| तत्परिहारः | ... २३१ |
| सूक्ष्मशरीरमेवाव्यक्तशब्दमिति वृत्तिकृन्मतम् | ... २३२ |
| एकवाक्यतावष्टम्भेन तत्खण्डनम् | ... २३२ |
| ज्ञेयत्वावचनाच्च प्रधानस्याव्यक्तशब्दत्वव्यावृत्तिः | २३३ |
| ‘निचाय्य तम्’ इत्यत्र प्रधानस्य निचाय्यत्वेन निर्देशशङ्काया निरसनम् | ... २३४ |
| अग्निजीवपरमात्मनां त्रयाणामेव प्रकृतत्वाच्च प्रधा- नव्यावृत्तिः | ... २३५ |
| जीवपरमात्मविषयप्रश्नैकत्वे त्रयाणामिति सूत्रवि- रोधः, तद्भेदे च प्रश्नव्यतिरेकेणापि प्रधानक- ल्पनाया अवसरः— इत्याक्षेपः | ... २३६ |
| वाक्योपक्रमसामर्थ्यात् प्रश्नैकत्वम् | ... २३६ |
| प्रष्टव्यजीवप्राज्ञयोरभेदसमर्थनेन प्रश्नैकत्वदृढी- करणम् | ... २३७ |
| सूत्रस्य आविद्यकभेदापेक्षया योजनम् | ... २३९ |

सांग्यप्रसिद्धेवैदिकप्रसिद्धिपराहतत्वप्रदर्शनम् ... २४०

२. चमसाधिकरणम् ... २४०—२४४

अजामेकामिति मन्त्रवर्णात् प्रधानस्य श्रुतिमूलत्व-
शङ्का ... २४०

अजावाक्यं चमसवाक्यवत् परिप्लवमानं न स्वत-
न्त्रप्रधाननिश्चयाय पर्याप्तमिति सिद्धान्तः ... २४१

शाखान्तरबलात् तेजोब्रह्मलक्षणाया अजाया नि-
र्धारणम् ... २४२

तेजोब्रह्मलक्षणायाश्चराचरयोनेरजारूपककल्पयुप-
देशात् अजाशब्दत्वस्य समर्थनम् ... २४३

३. संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ... २४४—२४९

‘यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः’ इति मन्त्रमादाय पुनः

सांख्यप्रत्यवस्थानम् ... २४४

एकनिबन्धनानिरूपणात् सांख्यीयतत्त्वेषु ‘पञ्च
पञ्चजनाः’ इत्यस्य दुर्घटत्वनिरूपणम् ... २४५

पञ्चजनशब्दस्य समस्तत्वनिर्धारणेन सांख्यनि-
रसनम् ... २४५

संख्यातिरेकेस्याभ्युच्चयतथा विशदीकरणम् ... २४६

सिद्धान्ते पञ्चजनशब्दार्थस्य निर्धारणम् ... २४७

पञ्चजनशब्दस्य देवादिपरतया निषादपञ्चमवर्ण-
परतया च व्याख्यानान्तरम् २४८

| | |
|--|--------------|
| प्राणादिषु अन्नस्थाने ज्योतिषा काण्वानां पञ्च- संख्यापूर्तिः | ... २४९ |
| ४. कारणत्वाधिकरणम् | २४९—२५५ |
| वृत्तसंकीर्तनम् | ... २४९ |
| प्रतिवेदान्तं सृष्टिविगानात् ब्रह्मकारणत्वगतिसामा- न्याक्षेपपूर्वकं कारणान्तरपरिग्रहस्यौचित्योद्भा- वनम् | ... २५० |
| सृज्यमानेषु विगानेऽपि स्रष्टरि विगानाभावादवि- रोधस्य निर्वाहः | ... २५१ |
| ‘असद्वा’ इत्यादिकारणविगानस्य परिहारः | २५३ |
| ५. बालाक्यधिकरणम् | ... २५५—२६० |
| कौषीतकिब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादे मुख्यः | |
| प्राणो वेदितव्य इति आद्यः पक्षः | ... २५५ |
| जीव इति द्वितीयः पक्षः | ... २५५ |
| ब्रह्मोपक्रमसामर्थ्यात् ‘यस्य वै तत्कर्म’ इति क- र्मशब्दस्य जगद्वाचित्वाच्च परमेश्वर एवेति सि- द्धान्तः | ... २५६ |
| प्रतर्दनाधिकरणन्यायेन पुनरुद्भाव्यमानजीवमुख्य- प्राणलिङ्गनिराकरणम् | ... २५८ |
| जीवव्यतिरिक्तविषयप्रश्नप्रतिवचनबलात् जीवपरा- मर्शास्य अन्यार्थत्वसमर्थनम् | ... २५९ |

६. वाक्यान्वयाधिकरणम् ... २६०—२६८
- मैत्रेयीब्राह्मणे द्रष्टव्यतया जीवस्य परमात्मनो वा
 उपदेश इति विचिकित्सायाः सहेतुकमुपन्यासः २६०
- उपक्रमसामर्थ्यात् , परस्यैव समुत्थानश्रुत्या जीवा-
 भेदाभिधानात् , विज्ञातृशब्दाच्च जीवोपदेश
 इति पूर्वपक्षः ... २६१
- वाक्यान्वयात्परमात्मोपदेश इति सिद्धान्तः ... २६१
- वाक्यान्वयप्रपञ्चनम् ... २६२
- आश्मरथ्यमतेन प्रतिज्ञासिद्धयर्थं जीवपरमात्मनो-
 रभेदेनोपक्रमणमिति उपक्रमसामर्थ्यस्य सिद्धा-
 न्तानुगुण्यसंपादनम् ... २६३
- साधनानुष्ठानात् संप्रसन्नस्य देहादिसंघातादुत्क्रमि-
 ष्यत ऐक्योपपत्तेरभेदेनोपक्रमणमिति औडुलो-
 मिमतम् ... २६३
- ऐक्येनावस्थानादुपपन्नमभेदेनोपक्रमणमिति काश-
 कृत्स्नमतम् ... २६४
- उक्तमतत्रयविभजनम् ... २६४
- काशकृत्स्नमतस्याभ्यर्हितत्वसमर्थनम् ... २६४
- द्वितीयपूर्वपक्षनिरासपरतया त्रिसूत्रीयोजना ... २६५
- काशकृत्स्नीयदर्शनेन विज्ञातृशब्दानुगुण्यसंपादनम् २६६
- काशकृत्स्नीयमतस्य श्रुतिमत्त्वप्रपञ्चनम् ... २६७

७. प्रकृत्यधिकरणम् ... २६८—२७४
- संगतिप्रदर्शनम् ... २६८
- ब्रह्मणः निमित्तकारणत्वमेवेति पक्षस्य उपन्यासः २६९
- एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया मृदादिदृष्टान्ता-
नां च अनुपरोधाय उपादानत्वस्य निमित्तत्वस्य
च आश्रयणमिति सिद्धान्तः ... २७०
- निमित्तत्वस्य अधिष्ठात्रन्तराभावेन समर्थनम् ... २७१
- अभिध्योपदेशस्य हेत्वन्तरतयोपन्यासः ... २७१
- साक्षाच्च प्रभवप्रलययोराम्नास्य प्रकृतित्वाभ्युच्चयत-
योपन्यासः ... २७२
- कृतिमत्त्वकृतिविषयत्वयोरुपादानस्य हेत्वन्तरतयो-
पन्यासः ... २७२
- प्रकृतिवाचियोनिशब्दब्रलादपि प्रकृतित्वसाधनम् २७३
८. सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ... २७४—२७५
- प्रधानमल्लनिवर्हणन्यायेन प्रधानवादनिराकरणस्य
अण्वादिवादेष्वतिदेशः





शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो
भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः ।
शं नो विष्णुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे ।
नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मवदिष्यामि । ऋतं
वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मा-
मवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् ।
अवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



सह नावतु । सह नौ भुनक्तु ।
सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीत-
मस्तु मा विद्विषावहै ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छ-
 न्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव । स मेन्द्रो
 मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देवधारणो
 भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जि-
 ह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि
 विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया
 पिहितः । श्रुतं मे गोपाय ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं
 गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृ-
 तमस्मि । द्रविणः सवर्चसम् । सुमेधा
 अमृतोक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुव-
 चनम् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः । भद्रं
पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा-
ꣳसस्तनूभिः । व्यशेम देवहितं यदा-
युः । स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्व-
स्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति न-
स्ताक्षर्यो अरिष्टनेमिः । स्वस्ति नो बृह-
स्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्य-
ते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशि-
ष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राण-
श्रक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च

सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म
निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिरा-
करणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्म-
नि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि
सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता । मनो मे
वाचि प्रतिष्ठितम् । आविरावीर्म एधि ।
वेदस्य म आणीस्थः । श्रुतं मे मा प्रहा-
सीः । अनेनाधीतेन । अहोरात्रान्संदधा-
मि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि ।
तन्मामवतु । तद्वक्कारमवतु । अवतु
माम् । अवतु वक्कारमवतु वक्कारम् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



भद्रं नोऽपि वातय मनः ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै
वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । त५ ह देव-
मात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं
प्रपद्ये ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



॥ ब्रह्मसूत्रभाष्यम् ॥



श्रीमच्छंकरभगवत्पादैर्विरचितम्

॥ ब्रह्मसूत्रभाष्यम् ॥

प्रथमाध्याये

प्रथमः पादः



॥ श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादाः ॥

श्रीवाणीविलासमुद्राथञ्चालये मुद्रितमिदम् ।



Sourishunker Ganerivata.

शारीरकमीमांसा

॥ सूत्रभाष्यम् ॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पादैः
विरचितम् ।

—*—



युष्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विष-
यविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभा-
वयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायाम्,
तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानु-
पपत्तिः— इत्यतः अस्मत्प्रत्ययगोचरे
विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगो-
चरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः तद्विपर्ययेण विषयि-

णस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम् ।
 तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्माश्चाध्यस्येतरे-
 तराविवेकेन अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञाननि-
 मित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य 'अहमिदम्' 'ममेदम्' इति
 नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः ॥

आह—कोऽयमध्यासो नामेति । उच्यते— स्मृतिरूपः
 परत्र पूर्वदृष्टावभासः । तं केचित् अन्यत्रान्यधर्माध्यास इति
 वदन्ति । केचित्तु यत्र यदध्यासः तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्र-
 म इति । अन्ये तु यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्व-
 कल्पनामाचक्षते । सर्वथापि तु अन्यस्यान्यधर्मावभासतां
 न व्यभिचरति । तथा च लोकेऽनुभवः— शुक्तिका हि
 रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति ॥

कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषये अध्यासो विषयतद्धर्माणा-
 म्? सर्वो हि पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यस्यति ;
 युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनः अविषयत्वं ब्रवीषि ।
 उच्यते— न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविष-
 यत्वात् अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः; न चायमस्ति
 नियमः— पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्य-
 मिति ; अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालाः तलमलिनतादि अध्य-

स्यन्ति ; एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यपि अनात्माध्यासः ॥

तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते । तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः । तत्रैवं सति, यत्र यदध्यासः, तत्कृतेन दोषेण गुणेन वा अणुमात्रेणापि स न संबध्यते । तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिकाः प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि । कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति, उच्यते— देहेन्द्रियादिषु अहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । न हीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति । न चाधिष्ठानमन्तरेण इन्द्रियाणां व्यापारः संभवति । न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्ब्रह्माप्रियते । न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति असङ्गस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते । न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति । तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति । पश्चादिभिश्चाविशेषात् । यथा हि पश्चादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते ; यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य ‘मां

हन्तुमयमिच्छति' इति पलायितुमारभन्ते, हरितवृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रति अभिमुखीभवन्ति; एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान्बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान्प्रति अभिमुखीभवन्ति । अतः समानः पश्चादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः । पश्चादीनां च प्रसिद्ध एव अविवेकपूर्वकः प्रत्यक्षादिव्यवहारः । तत्सामान्यदर्शनाद्व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते । शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वा आत्मनः परलोकसंबन्धमधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यमशनायाद्यतीतमपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदमसंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगात् अधिकारविरोधाच्च । प्राक् च तथाभूतात्मविज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते । तथा हि—'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते । अध्यासो नाम अतस्मिस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम । तद्यथा—पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति; तथा देहधर्मान् 'स्थूलोऽहं कृशोऽहं गौरोऽहं तिष्ठामि गच्छामि लङ्घयामि च' इति; तथेन्द्रियधर्मान्—'भूकः काणः

ह्रीबो बधिरोऽन्धोऽहम्' इति ; तथान्तःकरणधर्मान् कामसं-
कल्पविचिकित्साध्यवसायादीन् । एवमहंप्रत्ययिनमशेषस्वप्र-
चारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षि-
णं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति । एवमयमनादिरन-
न्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रव-
र्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः । अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्व-
विद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते । यथा चायमर्थः
सर्वेषां वेदान्तानाम्, तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रद-
र्शयिष्यामः । वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्ये-
दमादिमं सूत्रम्—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

अत्र अथशब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते ; नाधिकारार्थः,
ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् ; मङ्गलस्य च वाक्यार्थे
१. जिज्ञासा- समन्वयाभावात् ; अर्थान्तरप्रयुक्त एव
धिकरणम् । ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति ;
पूर्वप्रकृतापेक्षयाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात् । सति च
आनन्तर्यार्थत्वे, यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमे-
नापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते
तद्वक्तव्यम् । स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यं तु समानम् । नन्विह

कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः; न; धर्मजिज्ञासायाः प्रागपि अधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः । यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः, क्रमस्य विवक्षितत्वात्, न तथेह क्रमो विवक्षितः; शेषशेषित्वे अधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात् धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः । फलजिज्ञास्यभेदाच्च । अभ्युदयफलं धर्मज्ञानम्, तच्चानुष्ठानापेक्षम्; निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मज्ञानम्, न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्; भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्; इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यवृत्तत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम् । चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च । या हि चोदना धर्मस्य लक्षणम्, सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति; ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्; अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते—यथा अक्षार्थसंनिकर्षणार्थावबोधे, तद्वत् । तस्मात्किमपि वक्तव्यम्, यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति । उच्यते— नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षुत्वं च । तेषु हि सत्सु, प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च, शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च; न विपर्यये । तस्मात् अथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते ॥

अतःशब्दः हेत्वर्थः । यस्माद्वेद एव अग्निहोत्रादीनां श्रेयः-
साधनानामनित्यफलतां दर्शयति—‘तद्यथेह कर्मचितो लो-
कः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते’ इत्यादिः ;
तथा ब्रह्मज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति— ‘ब्रह्मविदाप्नो-
ति परम्’ इत्यादिः ; तस्मात् यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्र-
ह्मजिज्ञासा कर्तव्या ॥

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्ष-
णम् ‘जन्माद्यस्य यतः’ इति । अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जा-
त्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम् । ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शे-
षे ; जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः, जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च ।
ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्य-
ते, संबन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् ; एवमपि प्रत्यक्षं ब्र-
ह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पय-
तो व्यर्थः प्रयासः स्यात् । न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्र-
तिज्ञानार्थत्वादिति चेत्, न ; प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामप्य-
र्थाक्षिप्तत्वात् । ब्रह्म हि ज्ञानेनामुमिष्टतमत्वात्प्रधानम् । तस्मि-
न्प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते, यैजिज्ञासितैर्विना ब्रह्म
जिज्ञासितं न भवति, तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक्सूत्रयित-
व्यानि । यथा ‘राजासौ गच्छति’ इत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो

गमनमुक्तं भवति, तद्वत् । श्रुत्यनुगमाच्च । ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ इत्याद्याः श्रुतयः ‘तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म’ इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति । तच्च कर्मणिषष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति । तस्माद्ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी ॥

ज्ञानुमिच्छा जिज्ञासा । अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म, फलविषयत्वादिच्छायाः । ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म । ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिवर्हणात् । तस्माद्ब्रह्म जिज्ञासितव्यम् ॥

तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात् ; यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम् । अथाप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति । उच्यते— अस्ति तावद्ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम् । ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, बृंहतेर्धातोरर्थानुगमात् । सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः । सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न ‘नाहमस्मि’ इति । यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात्, सर्वो लोकः ‘नाहमस्मि’ इति प्रतीयात् । आत्मा च ब्रह्म । यदि तर्हि लोके ब्रह्म आत्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम् ; न ; तद्विशेषं

प्रति विप्रतिपत्तेः । देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता
 जना लौकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः । इन्द्रियाण्येव चेतनान्या-
 त्मेत्यपरे । मन इत्यन्ये । विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके ।
 शून्यमित्यपरे । अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता
 भोक्तृत्यपरे । भोक्तैव केवलं न कर्तृत्येके । अस्ति तद्व्यति-
 रिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचिन् । आत्मा स
 भोक्तुरित्यपरे । एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदा-
 भाससमाश्रयाः सन्तः । तत्राविचार्य यत्किञ्चित्प्रतिपद्यमानो
 निःश्रेयसात्प्रतिहन्येत, अनर्थं चेयात् । तस्माद्ब्रह्मजिज्ञासो-
 पन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तद्विरोधितर्कोपकरणा
 निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते ॥

ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम् । किंलक्षणं पुनस्तद्ब्रह्महेत्यत
 आह भगवान्सूत्रकारः—

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

जन्म उत्पत्तिः आदिः अस्य—इति तद्गुणसंविज्ञानो
 बहुव्रीहिः । जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः । जन्मनश्चादित्वं
 २. जन्माद्य- श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च । श्रुतिनि-
 धिकरणम् । देशस्तावत्— 'यतो वा इमानि भूतानि

जायन्ते' इति, अस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात् । वस्तुवृत्तमपि— जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थिति-प्रलयसंभवात् । अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः । षष्ठी जन्मादिधर्मसंबन्धार्था । यत इति कारणनिर्देशः । अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभो-क्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मन-साप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्व-शक्तेः कारणाद्भवति, तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः । अन्येषामपि भा-वविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम् । यास्कपरिपठितानां तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्ति-स्थितिनाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्कयेत ; तन्मा शङ्कि ; इति या उत्पत्तिर्ब्रह्मणः कारणात्, तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च, ते गृह्यन्ते । न च यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वा, अन्यतः प्रधानादचेतनात् अणुभ्यो वा अभावाद्वा सं-सारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम् । न च स्वभा-वतः, विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात् । एतदेवानु-मानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्ते ईश्वर-कारणवादिनः ॥

नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे ; न ; वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम् । वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते । वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता । सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु, तदर्थग्रहणदाढ्याय अनुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवत्, न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याप्यभ्युपेतत्वात् । तथा हि— ‘श्रोतव्यो मन्तव्यः’ इति श्रुतिः ‘पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद’ इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति । न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम् । किंतु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्, अनुभाववसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य । कर्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षास्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्, पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य । कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म ; यथा अश्वेन गच्छति, पद्भ्याम्, अन्यथा वा, न वा गच्छतीति । तथा ‘अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति’ ‘उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति’ इति । विधिप्रतिषेधाश्च अत्र अर्थवन्तः

स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च । न तु वस्तु 'एवम्, नैवम्'
 'अस्ति, नास्ति' इति वा विकल्प्यते । विकल्पनास्तु पुरुष-
 बुद्धयपेक्षाः । न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्धयपेक्षम् । किं
 तर्हि वस्तुतन्त्रमेव तत् । न हि स्थाणावेकस्मिन् 'स्थाणुर्वा,
 पुरुषोऽन्यो वा' इति तत्त्वज्ञानं भवति । तत्र 'पुरुषोऽन्यो वा'
 इति मिथ्याज्ञानम् । 'स्थाणुरेव' इति तत्त्वज्ञानम्, वस्तुत-
 न्त्रत्वात् । एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम् ।
 तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात् ।
 ननु भूतवस्तुविषयत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदा-
 न्तवाक्यविचारणा अनर्थिकैव प्राप्ता ; न ; इन्द्रियाविषयत्वेन
 संबन्धाग्रहणात् । स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्म-
 विषयाणि । सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः, इदं ब्रह्मणा सं-
 बद्धं कार्यमिति गृह्येत । कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणम्— किं
 ब्रह्मणा संबद्धम् ? किमन्येन केनचिद्वा संबद्धम् ?— इति न
 शक्यं निश्चेतुम् । तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्,
 किं तर्हि वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम् । किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं
 यत् सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम् । 'भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं
 पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति' इत्युपक्रम्याह—
 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीव-

न्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति ।^१
तस्य च निर्णयवाक्यम्—‘आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूता-
नि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्य-
भिसंविशन्ति’ इति । अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि
नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाणि उदाह-
र्तव्यानि ॥

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तम्, तदेव
द्रढयन्नाह—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य
प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म ।

१. शास्त्रयो- न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य
निर्वाधि- सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञान्यतः संभवो-
करणम् । ऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुष-

विशेषात्संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेः ज्ञेयैकदे-
शार्थमपि, स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके ।
किमु वक्तव्यम्— अनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्गानुष्य-
वर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्य
अप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवत् यस्मान्महतो

भूतात् योनेः संभवः— ‘अस्य महतो भूतस्य निःश्रसितमे-
तत् यद्गवेदः’ इत्यादिश्रुतेः— तस्य महतो भूतस्य निर-
तिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति ॥

अथवा यथोक्तमृगवेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य
ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे । शास्त्रादेव प्रमाणात् जगतो ज-
न्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः । शास्त्रमुदाहृतं
पूर्वसूत्रे— ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ इत्यादि ।
किमर्थं तर्हीदं सूत्रम्, यावता पूर्वसूत्रेणैव एवंजातीयकं शास्त्र-
मुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम् । उच्यते— तत्र
सूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादिसूत्रेण केवल-
मनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्कयेत ; तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं
सूत्रं प्रवृत्ते— ‘शास्त्रयोनित्वात्’ इति ॥

कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते, यावता ‘आम्ना-
यस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्’ इति क्रियापरत्वं
शास्त्रस्य प्रदर्शितम् । अतो वेदान्तानामानर्थक्यम्, अक्रि-
यार्थत्वात् ; कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिशेष-
त्वम्, उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा । न हि परि-
निष्ठितवस्तुस्वरूपप्रतिपादनं संभवति ; प्रत्यक्षादिविषयत्वा-

त्परिनिष्ठितवस्तुनः, तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावान् । अत एव 'सोऽरोदीत्' इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तम् । मन्त्राणां च 'इषे त्वा' इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायकत्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम् । अतो न कचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टा उपपन्ना वा । न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः संभवति, क्रियाविषयत्वाद्विधेः तस्मात्कर्मापेक्षितकर्तृदेवतादिस्वरूपप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम् । अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतद्भ्युपगम्यते, तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम् । तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते, उच्यते—

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

तु-शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । तद्ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्तिं जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादवगम्यते । कथम् ?

४. समन्वया समन्वयात् । सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्याधिकरणम् । नि तांत्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' 'तदेतद्ब्रह्मापूर्व-

मनपरमनन्तरमवाह्यम् ' अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः ' ' ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ' इत्यादीनि । न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमाने अर्थान्तरकल्पना युक्ता, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । न च तेषां कर्तृदेवतादिस्वरूपप्रतिपादनपरता अवसीयते, ' तत्केन कं पश्येत् ' इत्यादिक्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः । न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः, ' तत्त्वमसि ' इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात् । यत्तु हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः ; हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः । देवतादिप्रतिपादनपरस्य तु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः । न तु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं संभवति, एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः । न हि ब्रह्मैकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्येत । यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टम्, तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम् । न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यम्, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्ष्येत । तस्मात्सिद्धं

ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम् ॥

अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते— यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म, तथापि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते; यथा यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते, तद्वत् । कुत एतत्? प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनपरत्वा-च्छास्त्रस्य । तथा हि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्— ‘दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम’ इति; ‘चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्’ ‘तस्य ज्ञानमुपदेशः’ ‘तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः’ ‘आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानाम्’ इति च । अतः पुरुषं कचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत्कुतश्चिद्विषयविशेषान्निवर्तयञ्चार्थवच्छास्त्रम् । तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम् । तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात् । सति च विधिपरत्वे, यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादिसाधनं विधीयते, एवममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तम् । नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तम्—कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्यः, इह तु भूतं नित्यनिर्वृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति; तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानसापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति । नार्हत्येवं भवितुम्, कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात् । ‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः’ ‘य आत्मा-

पहतपाप्मा....सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' 'आत्मे-
 त्येवोपासीत' 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मै-
 व भवति' इत्यादिषु विधानेषु सत्सु, 'कोऽसावात्मा?' 'किं
 तद्ब्रह्म?' इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उप-
 युक्ताः— नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यवृत्तो नित्यशुद्धबुद्धमु-
 क्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्येवमादयः । तदुपास-
 नाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यति । कर्तव्यविध्य-
 ननुप्रवेशे तु वस्तुमात्रकथने हानोपादानासंभवात् 'सप्तद्वीपा-
 वसुमती' 'राजासौ गच्छति' इत्यादिवाक्यवद्वेदान्तवाक्या-
 नामानर्थक्यमेव स्यात् । ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि 'रज्जुरि-
 यम्, नायं सर्पः' इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं
 दृष्टम्; तथेहाप्यसंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनि-
 वर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात् । स्यादेतदेवम्, यदि रज्जुस्वरूपश्रवण-
 मात्रेणैव सर्पभ्रान्तिः, संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण
 निवर्तेत; न तु निवर्तेत; श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुः-
 खादिसंसारिधर्मदर्शनात्, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्या-
 सितव्यः' इति च श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयो-
 र्विधिदर्शनात् । तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमा-
 णकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति ॥

अत्राभिधीयते— न; कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात् । शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यम्, यद्विषया जिज्ञासा ‘अथातो धर्मजिज्ञासा’ इति सूत्रिता । अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाजिज्ञास्यः परिहाराय । तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे । मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखितारतम्यमनुश्रूयते । ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्यापि तारतम्यं गम्यते । धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम् । प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यविद्वत्तादिकृतमधिकारितारतम्यम् । तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथा गमनम्, केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनम्, तत्रापि सुखितारतम्यम्, तत्साधनतारम्यं च शास्त्रात् ‘यावत्संपातमुषित्वा’ इत्यस्माद्गम्यते । तथा मनुष्यादिषु स्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः । तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखितारतम्यदर्शनात्तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते । एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरी-

रोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृ-
 तिन्यायप्रसिद्धम् । तथा च श्रुतिः ‘ न ह वै सशरीरस्य सतः
 प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ’ इति यथावर्णितं संसाररूपमनु-
 वदति । ‘ अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ’ इति
 प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्य-
 स्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते । धर्मकार्यत्वे हि
 प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्येत । अशरीरत्वमेव धर्मका-
 र्यमिति चेत्, न ; तस्यै स्वाभाविकत्वात्—‘ अशरीरं शरी-
 रेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो
 न शोचति ’ ‘ अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः ’ ‘ असङ्गो ह्ययं पुरुषः ’
 इत्यादिश्रुतिभ्यः । अत एवानुप्रेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्य-
 मशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम् । तत्र किञ्चित्परिणामिनित्यं
 स्यात्, यस्मिन्विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते ;
 यथा पृथिव्यादि जगन्नित्यत्ववादिनाम्, यथा वा सांख्यानां
 गुणाः । इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत्सर्वव्यापि
 सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिःस्वभावम्,
 यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते ; तदेतद्-
 शरीरत्वं मोक्षाख्यम्— ‘ अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रा-
 स्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च ’ इत्यादिश्रुति-

भ्यः । अतस्तद्ब्रह्म, यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता । तद्यदि कर्त-
व्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्यु-
पगम्येत, अनित्य एव स्यात् । तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफले-
ष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति
प्रसज्येत । नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते ।
अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः । अपि च ‘ब्रह्म
वेद ब्रह्मैव भवति’ ‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्हृष्टे
परावरे’ ‘आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कुतश्चन’ ‘अभयं
वै जनक प्राप्नोऽसि’ ‘तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति,
तस्मान्तत्सर्वमभवत्’ ‘तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनु-
पश्यतः’ इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरमेव मोक्षं दर्श-
यन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति । तथा ‘तद्धैतत्पश्य-
न्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च’ इति ब्रह्म-
दर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणायोदाहार्यम्—
यथा ‘तिष्ठन्गायति’ इति तिष्ठतिगायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं
कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते । ‘त्वं हि नः पिता यो-
ऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि’ ‘श्रुतं ह्येव मे भग-
वद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति ; सोऽहं भगवः शोचामि,
तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु’ ‘तस्मै मृदितकषायाय

तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनात्कुमारः' इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति । तथा च आचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्— 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इति । मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति । न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं संपद्रूपम्— यथा 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' इति । न चाध्यासरूपम्— यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' इति च मनआदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः । नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तम् 'वायुर्वाव संवर्गः' 'प्राणो वाव संवर्गः' इति चत् । नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत्कर्माङ्गसंस्काररूपम् । संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने, 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत । 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्लिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इति चैवमादीन्यविद्यानिवृत्तिफलश्रवणान्युपरुध्येरन् । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि संपदादिरूपत्वे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन् । तस्मान्न संपदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम् । अतो

न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या । किं तर्हि, प्रत्यक्षादि-
 प्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रैव । एवंभूतस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञान-
 नस्य च न कयाचिद्युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयि-
 तुम् । न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः—
 ‘अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि’ इति विदिक्रि-
 याकर्मत्वप्रतिषेधात्, ‘येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजा-
 नीयात्’ इति च । तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भ-
 वति— ‘यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते’ इत्यविषयत्वं
 ब्रह्मण उपन्यस्य, ‘तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते’
 इति । अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत्, न ;
 अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य । न हि शास्त्रमि-
 दंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति । किं तर्हि, प्रत्य-
 गात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयत् अविद्याकल्पितं वेद्यवेदि-
 त्वेदनादिभेदमपनयति । तथा च शास्त्रम्— ‘यस्यामतं
 तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां
 विज्ञातमविजानताम्’ ‘न दृष्टेर्दृष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं
 श्रुणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं वि-
 जानीयाः’ इति चैवमादि । अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनि-
 वर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः ।

यस्य तूत्पाद्यो मोक्षः, तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम् । तथा विकार्यत्वे च । तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम् । न हि दध्यादि विकार्यम् उत्पाद्यं वा घटादि नित्यं दृष्टं लोके । न च आप्यत्वेनापि कार्यपेक्षा, स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात् ; स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वम्, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मण आकाशस्येव । नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत । संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्यात्, दोषापनयनेन वा । न तावद्गुणाधानेन संभवति, अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य । नापि दोषापनयनेन, नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य । स्वात्मधर्म एव सन् तिरोभूतो मोक्षः क्रियायात्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते—यथा आदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत्, न ; क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः । यदाश्रया क्रिया, तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते । यद्यात्मा स्वाश्रयक्रिया विक्रियेत, अनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत । ‘अविकार्योऽयमुच्यते’ इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन् । तच्चानिष्टम् । तस्मान्न स्वाश्रया क्रिया आत्मनः संभवति । अन्याश्रयास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयात्मा संस्क्रियते । ननु

देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतधारणादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः, न ; देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संस्क्रियमाणत्वात् । प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्वेहसमवायित्वम् । तथा देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चिद्विद्ययात्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियत इति युक्तम् । यथा देहाश्रयचिकित्सा-निमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलम्, 'अहंरोगः' इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते— एवं स्नानाचमनयज्ञोपवीतधारणादिकया 'अहं शुद्धः संस्कृतः' इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते, स संस्क्रियते । स च देहेन संहत एव । तेनैव अहंकर्त्रा अहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते । तत्फलं च स एवाभ्राति, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति मन्त्रवर्णात्— 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इति च । तथा 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति, स पर्यागाच्छुक्रमकायमव्रणमस्त्राविरं शुद्धमपापविद्धम्' इति, च— एतौ मन्त्रावनाधेयातिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः । ब्रह्मभावश्च मोक्षः । तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः । अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं

केनचिद्दर्शयितुम् । तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्ध-
 मात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते । ननु ज्ञानं नाम मानसी
 क्रिया, न ; वैलक्षण्यात् । क्रिया हि नाम सा, यत्र वस्तु-
 स्वरूपनिर्गपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च,
 यथा— 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्याये-
 द्वषट् करिष्यन्' इति, 'संध्यां मनसा ध्यायेत्' इति चैव-
 मादिषु । ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसम्, तथापि पुरुषेण
 कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यम्, पुरुषतन्त्रत्वात् । ज्ञानं
 तु प्रमाणजन्यम् । प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम् । अतो
 ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुम् न शक्यम् । केवलं वस्तुत-
 न्त्रमेव तत् ; न चोदनातन्त्रम्, नापि पुरुषतन्त्रम् ; तस्मा-
 न्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम् । यथा च 'पुरुषो
 वाव गौतमाग्निः' 'योषा वाव गौतमाग्निः' इत्यत्र योषि-
 त्पुरुषयोरग्निबुद्धिर्मानसी भवति ; केवलचोदनाजन्यत्वात्तु
 क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च ; या तु प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिः, न
 सा चोदनातन्त्रा ; नापि पुरुषतन्त्रा ; किं तर्हि, प्रत्यक्षवि-
 षयवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतत् ; न क्रिया— एवं सर्वप्र-
 माणविषयवस्तुषु वेदितव्यम् । तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्म-
 विषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम् । तद्विषये लिङ्गादयः

श्रूयमाणा अपि अनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्ति उपला-
दिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्षण्यादिवत्, अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात् ।
किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्या-
दीनि विधिच्छायायानि वचनानि?— स्वाभाविकप्रवृत्तिवि-
षयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः । यो हि बहिर्मुखः प्रवर्तते
पुरुषः 'इष्टं मे भूयादनिष्टं मा भूत्' इति, न च तत्राल्य-
न्तिकं पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छितं स्वाभा-
विकात्कार्यकरणसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रो-
तस्तथा प्रवर्तयन्ति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि ;
तस्यात्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्य-
ते—'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्त-
त्केन कं पश्येत्...केन कं विजानीयात्' 'विज्ञातारमरे केन
विजानीयात्' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिभिः । यदप्यकर्त-
व्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति, तत्त-
थैवेत्यभ्युपगम्यते । अलंकारो ह्ययमस्माकम्— यद्ब्रह्मात्मा-
वगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति । तथा
च श्रुतिः— 'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्' इति, 'एतद्बुद्ध्वा
बुद्धिमानस्यात्कृतकृत्यश्च भारत' इति च स्मृतिः । तस्मान्न

प्रतिपत्तिविधिशेषतया ब्रह्मणः समर्पणम् ॥

यदपि केचिदाहुः—प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागो नास्तीति, तन्न ; औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात् योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्मस्वरूपः उत्पाद्यादिचतुर्विधद्रव्यविलक्षणः स्वप्रकरणस्थोऽनन्यशेषः, नासौ नास्तीति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम् ; ‘स एष नेति नेत्यात्मा’ इत्यात्मशब्दात् आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वात् । नन्वात्मा अहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम् ; न, तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात् । न ह्यहंप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषो विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगतः सर्वस्यात्मा । अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यः, विधिशेषत्वं वा नेतुम्—आत्मत्वादेव च सर्वेषाम्—न हेयो नाप्युपादेयः । सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति ; पुरुषो हि विनाशहेत्वभावादविनाशी ; विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः ; अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः ; तस्मात् ‘पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः’ ‘तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि’ इति चौपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु प्रा-

धान्येन प्रकाश्यमानत्वे उपपद्यते । अतो भूतवस्तुपरो वेद-
भागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम् ॥

यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्—‘ दृष्टो हि तस्यार्थः
कर्मावबोधनम् ’ इत्येवमादि, तन् धर्मजिज्ञासाविषयत्वाद्धिधि-
प्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम् । अपि च ‘ आम्नायस्य क्रियार्थ-
त्वादानर्थक्यमतदर्शानाम् ’ इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भू-
तोपदेशानामानर्थक्यप्रसङ्गः । प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यतिरेकेण भूतं
चेद्वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति
को हेतुः । न हि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति । अक्रि-
यात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात्क्रियार्थ एव भूतोपदेश
इति चेत्, नैष दोषः ; क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्ति-
मद्वस्तूपदिष्टमेव ; क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य ; न चैता-
वता वस्त्वनुपदिष्टं भवति । यदि नामोपदिष्टं किं तव
तेन स्यादिति, उच्यते— अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च तथैव
भवितुमर्हति ; तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्तिः
प्रयोजनं कियत इत्यविशिष्टमर्थवचनं क्रियासाधनवस्तूप-
देशेन । अपि च ‘ ब्राह्मणो न हन्तव्यः ’ इति चैवमाद्या
निवृत्तिरूपदिश्यते । न च सा क्रिया । नापि क्रियासाध-
नम् । अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत्, ‘ ब्राह्मणो न हन्त-

व्यः' इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम् । तच्चानिष्टम् । न च स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुम्, हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण । नञश्चैष स्वभावः, यत्स्वसंबन्धिनोऽभावं बोधयतीति । अभावबुद्धिश्चौदासीन्ये कारणम् । सा च दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति । तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे, अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः । तस्मात्पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम् ॥

यदप्युक्तम्— कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात् 'सप्तद्वीपा वसुमती' इत्यादिवदिति, तत्परिहृतम्; 'रज्जुरियम्, नायं सर्पः' इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात् । ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्शनान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमित्युक्तम्; अत्रोच्यते—नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुम्, वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात् । न हि शरीराद्यात्माभिमानिनो दुःखभयादिमत्त्वं दृष्टमिति, तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मावगमे तदभिमाननिवृत्तौ तदेव भि-
श्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्प-

यितुम् । न हि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति, तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं दुःखं भवति । न च कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डलिवियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति । तदुक्तं श्रुत्या— ‘अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः’ इति । शरीरे पतिते-ऽशरीरत्वं स्यात्, न जीवत इति चेत्, न ; सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात् । न ह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वा अन्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम् । नित्यमशरीरत्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम । तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेत्, न ; शरीरसंबन्धस्यासिद्धत्वात् धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः, शरीरसंबन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् ; अन्धपरस्परैषा अनादित्वकल्पना, क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः । संनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमिति चेत्, न ; धनदानाद्युपाजितभृत्यसंबन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः ; न त्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिभावसंबन्धनिमित्तं किञ्चिच्छक्यं कल्पयितुम् । मिथ्याभिमानस्तु

प्रत्यक्षः संबन्धहेतुः । एतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम् ।
 अत्राहुः—देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनः आत्मीये देहादावहमभि-
 मानो गौणः, न मिथ्येति चेत्, न ; प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्व-
 मुख्यत्वप्रसिद्धेः । यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः—यथा केस-
 रादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाङ्-
 मुख्योऽन्यः सिद्धः, ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्या-
 दिभिः सिंहगुणैः संपन्नः सिद्धः, तस्य तस्मिन्पुरुषे सिंहशब्द-
 प्रत्ययौ गौणौ भवतः; नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य । तस्य त्वन्यत्रान्य-
 शब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतः, न गौणौ ; यथा मन्दा-
 न्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्था-
 णुविषयौ, यथा वा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिदमिति निश्चितौ
 शब्दप्रत्ययौ, तद्वद्देहादिसंघाते, अहम् इति निरुपचारेण शब्द-
 प्रत्ययावात्मानात्माविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदि-
 तुम् । आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालाना-
 मिवाविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः । तस्माद्देहादिव्यतिरिक्ता-
 त्मास्तित्वादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव, न गौणः ।
 तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य, सिद्धं जीवतो-
 ऽपि विदुषोऽशरीरत्वम् । तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः—
 ‘तद्यथाहिनिल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमे-

वेदश्च शरीरं शेते अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव’ इति ; ‘सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव सम-ना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव’ इति च । स्मृतिरपि— ‘स्थितप्रज्ञस्य का भाषा’ इत्याद्या स्थितप्रज्ञस्य लक्षणान्याच-क्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसंबन्धं दर्शयति । तस्मान्नावगत-ब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम् । यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासावगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम् ॥

यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शना-द्विधिशेषत्वं ब्रह्मणः, न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति, तन्न ; श्रव-णवदवगत्यर्थत्वान्मनननिदिध्यासनयोः । यदि ह्यवगतं ब्रह्मा-न्यत्र विनियुज्येत, भवेत्तदा विधिशेषत्वम् ; न तु तदस्ति, मनननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात् । तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभव-तीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसम-न्वयादिति सिद्धम् । एवं च सति ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’ इति तद्विषयः पृथक् शास्त्रारम्भ उपपद्यते । प्रतिपत्तिवि-धिपरत्वे हि ‘अथातो धर्मजिज्ञासा’ इत्येवारब्धत्वान्न पृथक् शास्त्रमारभ्येत ; आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत— अथातः परि-शिष्टधर्मजिज्ञासेति, ‘अथातः ऋत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा’

इतिवत् । ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति तदर्थो युक्तः
शास्त्रारम्भः— ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’ इति । तस्मात्
अहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेत-
राणि प्रमाणानि । न ह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ सत्याम्,
निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति । अपि
चाहुः— ‘गौणमिध्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् । स-
द्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत् ॥ अन्वेष्टव्यात्म-
विज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः । अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पा-
प्मदोषादिवर्जितः ॥ देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्’ इति ॥

एवं तावद्वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मात्मावगतिप्रयोजनानां ब्र-
ह्मात्मनि तात्पर्येण समन्वितानामन्तरेणापि कार्यानुप्रवेशं
ब्रह्मणि पर्यवसानमुक्तम् । ब्रह्म च सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदु-
त्पत्तिस्थितिलयकारणमित्युक्तम् । सांख्याद्यस्तु परिनिष्ठितं
वस्तु प्रमाणान्तरगम्यमेवेति मन्यमानाः प्रधानादीनि कार-
णान्तराण्यनुभिमानास्तत्परतयैव वेदान्तवाक्यानि योजय-
न्ति । सर्वेष्वेव वेदान्तवाक्येषु सृष्टिविषयेष्वनुमानेनैव कार्येण
कारणं लिलक्षयिषितम् । प्रधानपुरुषसंयोगा नित्यानुमेया
इति सांख्या मन्यन्ते । काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य

ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमते, अणूंश्च समवायिकारणम् ।
एवमन्येऽपि तार्किका वाक्याभासयुक्त्याभासावष्टम्भाः पूर्व-
पक्षवादिन इहोत्तिष्ठन्ते । तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञानाचार्येण
वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मात्मावगतिपरत्वप्रदर्शनाय वाक्याभा-
सयुक्त्याभासप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्ते ॥

तत्र सांख्याः प्रधानं त्रिगुणमचेतनं स्वतन्त्रं जगत्कारण-
मिति मन्यमाना आहुः— यानि वेदान्तवाक्यानि सर्वज्ञस्य
सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रदर्शयन्तीत्यवोचः, तानि
प्रधानकारणपक्षेऽपि योजयितुं शक्यन्ते । सर्वशक्तित्वं ताव-
त्प्रधानस्यापि स्वविकारविषयमुपपद्यते । एवं सर्वज्ञत्वमप्युप-
पद्यते ; कथम् ? यत्त्वं ज्ञानं मन्यसे, स सत्त्वधर्मः, ‘ सत्त्वात्सं-
जायते ज्ञानम् ’ इति स्मृतेः । तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन कार्य-
करणवन्तः पुरुषाः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः । सत्त्वस्य हि
निरतिशयोत्कर्षे सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धम् । न केवलस्य अकार्य-
करणस्य पुरुषस्योपलब्धिमात्रस्य सर्वज्ञत्वं किञ्चिज्ज्ञत्वं वा
कल्पयितुं शक्यम् । त्रिगुणत्वात् प्रधानस्य सर्वज्ञानकार-
णभूतं सत्त्वं प्रधानावस्थायामपि विद्यत इति प्रधानस्या-
चेतनस्यैव सतः सर्वज्ञत्वमुपचर्यते वेदान्तवाक्येषु । अवश्यं
च त्वयापि सर्वज्ञं ब्रह्मेत्यभ्युपगच्छता सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव

सर्वज्ञत्वमभ्युपगन्तव्यम् । न हि सर्वदा सर्वविषयं ज्ञानं कुर्व-
देव ब्रह्म वर्तते । तथाहि— ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानक्रियां प्रति
स्वातन्त्र्यं ब्रह्मणो हीयेत; अथानित्यं तदिति ज्ञानक्रियाया
उपरमे उपरमेतापि ब्रह्म, तदा सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्व-
ज्ञत्वमापतति । अपि च प्रागुत्पत्तेः सर्वकारकशून्यं ब्रह्मेष्ट्यते
त्वया । न च ज्ञानसाधनानां शरीरेन्द्रियादीनामभावे ज्ञानो-
त्पत्तिः कस्यचिदुपपन्ना । अपि च प्रधानस्यानेकात्मकस्य
परिणामसंभवात्कारणत्वोपपत्तिर्भृदादिवत्, नासंहतस्यैका-
त्मकस्य ब्रह्मणः;— इत्येवं प्राप्ते, इदं सूत्रमारभ्यते—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं
शक्यं वेदान्तेष्वश्रयितुम् । अशब्दं हि तत् । कथमशब्द-
५. ईक्षत्यधि- त्वम्? ईक्षतेः ईक्षितृत्वश्रवणात्कारणस्य ।
करणम् । कथम् ? एवं हि श्रूयते— ‘सदेव सो-
म्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ इत्युपक्रम्य ‘तदैक्षत बहु
स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत’ इति । तत्र इदंशब्दवा-
च्यं नामरूपव्याकृतं जगत् प्रागुत्पत्तेः सदात्मनावधार्यं,
तस्यैव प्रकृतस्य सच्छब्दवाच्यस्येक्षणपूर्वकं तेजःप्रभृतेः
स्रष्टृत्वं दर्शयति । तथान्यत्र— ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र

आसीत् । नान्यत्किञ्चन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा
इति । स इमाँल्लोकानसृजत' इतीक्षापूर्विकामेव सृष्टिमा-
चष्टे । क्वचिच्च षोडशकलं पुरुषं प्रस्तुत्याह— 'स ईक्षां-
चक्रे, स प्राणमसृजत' इति । ईक्षतेरिति च धात्वर्थनिर्दे-
शोऽभिप्रेतः, यजतेरितिवत्, न धातुनिर्देशः । तेन 'यः स-
र्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूप-
मन्नं च जायते' इत्येवमादीन्यपि सर्वज्ञेश्वरकारणपराणि
वाक्यान्युदाहर्तव्यानि ॥

यत्तूक्तं सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन सर्वज्ञं प्रधानं भविष्यतीति,
तन्नोपपद्यते । न हि प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात्सत्त्वधर्मो
ज्ञानं संभवति । ननूक्तं सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञं भवि-
ष्यतीति; तदपि नोपपद्यते । यदि गुणसाम्ये सति
सत्त्वव्यपाश्रयां ज्ञानशक्तिमाश्रित्य सर्वज्ञं प्रधानमुच्येत,
कामं रजस्तमोव्यपाश्रयामपि ज्ञानप्रतिबन्धकशक्तिमाश्रित्य
किञ्चिज्ज्ञमुच्येत । अपि च नासाक्षिका सत्त्ववृत्ति-
र्जानातिना अभिधीयते । न चाचेतनस्य प्रधानस्य साक्षि-
त्वमस्ति । तस्मादनुपपन्नं प्रधानस्य सर्वज्ञत्वम् । योगिनां तु
चेतनत्वात्सत्त्वोत्कर्षनिमित्तं सर्वज्ञत्वमुपपन्नमित्यनुदाहरणम् ।
अथ पुनः साक्षिनिमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्यापि कल्पयेत्,

यथाग्निनिमित्तमयःपिण्डादेर्दग्धत्वम्; तथा सति यन्निमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य, तदेव सर्वज्ञं ब्रह्म मुख्यं जगतः कारणमिति युक्तम् । यत्पुनरुक्तं ब्रह्मणोऽपि न मुख्यं सर्वज्ञत्वमुपपद्यते, नित्यज्ञानक्रियत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यासंभवादिति; अत्रोच्यते— इदं तावद्भवान्प्रष्टव्यः— कथं नित्यज्ञानक्रियत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति । यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यमस्ति, सोऽसर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम् । अनित्यत्वे हि ज्ञानस्य, कदाचिज्जानाति कदाचिन्न जानातीत्यसर्वज्ञत्वमपि स्यात् । नासौ ज्ञाननित्यत्वे दोषोऽस्ति । ज्ञाननित्यत्वे ज्ञानविषयः स्वातन्त्र्यव्यपदेशो नोपपद्यते इति चेत्, न; प्रततौष्ण्यप्रकाशेऽपि सवितरि 'दहति' 'प्रकाशयति' इति स्वातन्त्र्यव्यपदेशदर्शनात् । ननु सवितुर्दाह्यप्रकाश्यसंयोगे सति 'दहति' 'प्रकाशयति' इति व्यपदेशः स्यात्; न तु ब्रह्मणः प्रागुत्पत्तेर्ज्ञानकर्मसंयोगोऽस्तीति विषमो दृष्टान्तः । न; असत्यपि कर्मणि 'सविता प्रकाशते' इति कर्तृत्वव्यपदेशदर्शनात्, एवमसत्यपि ज्ञानकर्मणि ब्रह्मणः 'तदैक्षत' इति कर्तृत्वव्यपदेशोपपत्तेर्न वैषम्यम् । कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणि ईक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः । किं पुनस्तत्कर्म, यत्प्रागुत्पत्ते-

रीश्वरज्ञानस्य विषयो भवतीति— तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः । यत्प्रसादाद्धि योगिनामप्यतीतानागतविषयं प्रत्यक्षं ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः, किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहतिविषयं नित्यज्ञानं भवतीति । यदप्युक्तं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मणः शरीरादिसंबन्धमन्तरेणोक्षित्वमनुपपन्नमिति, न तच्चोद्यमवतरति; सवितृप्रकाशवद्ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः । अपि चाविद्यादिमतः संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्; न ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहितस्येश्वरस्य । मन्त्रौ चेमावीश्वरस्य शरीराद्यनपेक्षतामनावरणज्ञानतां च दर्शयतः— ‘न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च’ इति । ‘अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहु-रत्रयं पुरुषं महान्तम्’ इति च । ननु नास्ति तव ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहितेश्वरादन्यः संसारी— ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता’ इत्यादिश्रुतेः; तत्र किमिदमुच्यते— संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः, नेश्वरस्ये-

ति? अत्रोच्यते—सत्यं नेश्वरादन्यः संसारी; तथापि देहादि-
संघातोपाधिसंबन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरिगुहाशुपाधि-
संबन्ध इव व्योम्नः; तत्कृतश्च शब्दप्रत्ययव्यवहारो लोकस्य
दृष्टः— ‘घटच्छिद्रम्’ ‘करकच्छिद्रम्’ इत्यादिः, आ-
काशाव्यतिरेकेऽपि; तत्कृता चाकाशे घटाकाशादिभेदमि-
थ्याबुद्धिर्दृष्टा; तथेहापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्धाविवेक-
कृतेश्वरसंसारिभेदमिथ्याबुद्धिः । दृश्यते चात्मन एव सतो
देहादिसंघातेऽनात्मन्यात्मत्वाभिनिवेशो मिथ्याबुद्धिमात्रेण
पूर्वपूर्वेण । सति चैवं संसारित्वे देहाद्यपेक्षमीक्षित्वमुपपन्नं
संसारिणः । यदप्युक्तं प्रधानस्यानेकात्मकत्वान्मृदादिवत्कार-
णत्वोपपत्तिर्नासंहतस्य ब्रह्मण इति, तत्प्रधानस्याशब्दत्वे-
नैव प्रत्युक्तम् । यथा तु तर्केणापि ब्रह्मण एव कारणत्वं
निर्वोदुं शक्यते, न प्रधानादीनाम्, तथा प्रपञ्चयिष्यति
‘न विलक्षणत्वादस्य—’ इत्येवमादिना ॥

अत्राह— यदुक्तं नाचेतनं प्रधानं जगत्कारणमीक्षित्व-
त्वश्रवणादिति, तदन्यथाप्युपपद्यते; अचेतनेऽपि चेतनव-
दुपचारदर्शनात् । यथा प्रत्यासन्नपतनतां नद्याः कूलस्या-
लक्ष्य ‘कूलं पिपतिषति’ इत्यचेतनेऽपि कूले चेतनवदुप-
चारो दृष्टः, तद्वदचेतनेऽपि प्रधाने प्रत्यासन्नसर्गे चेतनवदुप-

चारो भविष्यति 'तदैक्षत' इति । यथा लोके कश्चिच्चेतनः स्नात्वा भुक्त्वा चापराह्णे 'ग्रामं रथेन गमिष्यामि' इतीक्षित्वा अनन्तरं तथैव नियमेन प्रवर्तते, तथा प्रधानमपि महदाद्याकारेण नियमेन प्रवर्तते; तस्माच्चेतनवदुपचर्यते । कस्मात्पुनः कारणात् विहाय मुख्यमीक्षित्वम् औपचारिकं कल्प्यते? 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' इति चाचेतनयोरप्यप्तेजसोश्चेतनवदुपचारदर्शनात्; तस्मात्सत्कर्तृकमपीक्षणमौपचारिकमिति गम्यते, उपचारप्राये वचनात्; —इत्येवं प्राप्ते, इदं सूत्रमारभ्यते—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

यदुक्तं प्रधानमचेतनं सच्छब्दवाच्यं तस्मिन्नौपचारिकमीक्षित्वम् अप्रेजसोरिवेति, तदसत् । कस्मात्? आत्मशब्दात्; 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य, 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' इति च तेजोबन्धानां सृष्टिमुक्त्वा, तदेव प्रकृतं सदीक्षित्वं तानि च तेजोबन्धानि देवताशब्देन परामृश्याह— 'सेयं देवतैक्षत' 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति । तत्र यदि प्रधानमचेतनं गुणवृत्त्येक्षित्वं कल्प्येत, तदेव प्रकृतत्वात् 'सेयं देवता' इति परामृश्येत; न तदा देवता जीवमात्मशब्देनाभिदध्यात् ।

जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता, त-
त्प्रसिद्धेर्निर्वचनाच्च । स कथमचेतनस्य प्रधानस्यात्मा
भवेत् । आत्मा हि नाम स्वरूपम् । नाचेतनस्य प्रधानस्य चे-
तनो जीवः स्वरूपं भवितुमर्हति । अथ तु चेतनं ब्रह्म मु-
ख्यमीक्षितृ परिगृह्येत, तस्य जीवविषय आत्मशब्दप्रयोग
उपपद्यते । तथा ‘स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं त-
त्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो’ इत्यत्र ‘स आत्मा’
इति प्रकृतं सदणिमानमात्मानमात्मशब्देनोपदिश्य, ‘तत्त्व-
मसि श्वेतकेतो’ इति चेतनस्य श्वेतकेतोरात्मत्वेनोपदिशति ।
अप्तेजसोस्तु— विषयत्वादचेतनत्वम्, नामरूपव्याकरणादौ
च प्रयोज्यत्वेनैव निर्देशात्, न चात्मशब्दवर्तिकचिन्मुख्यत्वे
कारणमस्तीति— युक्तं कूलवद्गौणत्वमीक्षितृत्वस्य । तयोरपि
सदधिष्ठितत्वापेक्षमेवेक्षितृत्वम् । सतस्त्वात्मशब्दान्न गौण-
मीक्षितृत्वमित्युक्तम् ॥

अथोच्येत—अचेतनेऽपि प्रधाने भवत्यात्मशब्दः, आ-
त्मनः सर्वार्थकारित्वात्; यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये
भवत्यात्मशब्दः ‘ममात्मा भद्रसेनः’ इति । प्रधानं हि
पुरुषस्यात्मनो भोगापवर्गौ कुर्वदुपकरोति, राज्ञ इव भृत्यः
संधिविग्रहादिषु वर्तमानः । अथवैक एवात्मशब्दश्चेतनाचे-

तनविषयो भविष्यति, 'भूतात्मा' 'इन्द्रियात्मा' इति च प्रयोगदर्शनात्; यथैक एव ज्योतिःशब्दः क्रतुज्वलन-विषयः । तत्र कुत एतदात्मशब्दादीक्षतेरगौणत्वमित्यत उत्तरं पठति—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

न प्रधानमचेतनमात्मशब्दालम्बनं भवितुमर्हति; 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदाणिमानमादाय, 'तत्त्वमसि श्वेत-केतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोर्मोक्षयितव्यस्य तन्निष्ठामुपदिश्य, 'आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इति मोक्षोपदेशात् । यदि ह्यचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् 'तत् अस्मि' इति ग्राहयेत्, मुमुक्षुं चेतनं सन्तमचेतनोऽसीति, तदा विपरीतवादि शास्त्रं पुरुषस्यानर्थायेत्यप्रमाणं स्यात् । न तु निर्दोषमिदं शास्त्रमप्रमाणं कल्पयितुं युक्तम् । यदि चाज्ञस्य सतो मुमुक्षोरचेतनमनात्मानमात्मेत्युपदिशेत्प्रमाणभूतं शास्त्रम्, स श्रद्धानतया अन्धगोलाङ्गूलन्यायेन तदात्मदृष्टिं न परित्यजेत्, तद्व्यतिरिक्तं चात्मानं न प्रतिपद्येत; तथा सति पुरुषार्थाद्विहन्येत, अनर्थं वा ऋच्छेत् । तस्माद्यथा स्वर्गाद्यर्थिनोऽग्निहोत्रादि-साधनं यथाभूतमुपदिशति, तथा मुमुक्षोरपि 'स आत्मा

तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति यथाभूतमेवात्मानमुपदिशतीति युक्तम् । एवं च सति तत्प्रपरशुग्रहणमोक्षदृष्टान्तेन सत्याभिसंधस्य मोक्षोपदेश उपपद्यते । अन्यथा ह्यमुख्ये सदात्मतत्त्वोपदेशे, 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' इतिवत्संपन्मात्ममिदमनित्यफलं स्यात्; तत्र मोक्षोपदेशो नोपपद्येत । तस्मान्न सद्गणिमन्यात्मशब्दस्य गौणत्वम् । भृत्ये तु स्वामिभृत्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वादुपपन्नो गौण आत्मशब्दः 'समात्मा भद्रसेनः' इति । अपि च क्वचिद्गौणः शब्दो दृष्ट इति नैतावता शब्दप्रमाणकेऽर्थे गौणीकल्पना न्याय्या, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात् । यत्तूक्तं चेतनाचेतनयोः साधारण आत्मशब्दः, क्रतुज्वलनयोरिव ज्योतिःशब्द इति, तन्न; अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात् । तस्माच्चेतनविषय एव मुख्य आत्मशब्दश्चेतनत्वोपचाराद्भूतादिषु प्रयुज्यते— 'भूतात्मा' 'इन्द्रियात्मा' इति च । साधारणत्वेऽप्यात्मशब्दस्य न प्रकरणमुपपदं वा किञ्चिन्निश्चायकमन्तरेणान्यतरवृत्तिता निर्धारयितुं शक्यते । न चात्राचेतनस्य निश्चायकं किञ्चित्कारणमस्ति । प्रकृतं तु सदीक्षित्वं संनिहितश्च चेतनः श्वेतकेतुः । न हि चेतनस्य श्वेतकेतोरचेतन आत्मा संभवतीत्यवोचाम । तस्माच्चेतनविषय इहात्मशब्द इति निश्चीयते । ज्योतिःश-

द्वोऽपि लौकिकेन प्रयोगेण ज्वलन एव रूढः, अर्थवादक-
 स्मितेन तु ज्वलनसादृश्येन क्रतौ प्रवृत्त इत्यदृष्टान्तः ।
 अथवा पूर्वसूत्र एवात्मशब्दं निरस्तसमस्तगौणत्वसाधारण-
 त्वाशङ्कतया व्याख्याय, ततः स्वतन्त्र एव प्रधानकारणनिरा-
 करणहेतुर्व्याख्येयः— ‘तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्’ इति ।
 तस्मान्नाचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ?—

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्, ‘स आत्मा तत्त्वम-
 सि’ इतीहोपदिष्टं स्यात्; स तदुपदेशश्रवणादनात्मज्ञतया त-
 न्निष्ठो मा भूदिति, मुख्यमात्मानमुपदिदिक्षु शास्त्रं तस्य हेयत्वं
 ब्रूयात् । यथारुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां ताराम-
 मुख्यां प्रथममरुन्धतीति ग्राहयित्वा, तां प्रत्याख्याय, पश्चाद्-
 रुन्धतीमेव ग्राहयति; तद्वन्नायमात्मेति ब्रूयात् । न चैवम-
 वोचत् । सन्मात्रात्मावगतिनिष्ठैव हि षष्ठप्रपाठके परिसमाप्ति-
 र्दृश्यते । च-शब्दः प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयप्रदर्शनार्थः । सत्यपि
 हेयत्ववचने प्रतिज्ञाविरोधः प्रसज्येत । कारणविज्ञानाद्धि स-
 र्वं विज्ञातमिति प्रतिज्ञातम्—‘उत तमादेशमप्राक्ष्यो येना-

श्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति; कथं
 नु भगवः स आदेशो भवतीति; यथा सोम्यैकेन
 मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो
 नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' 'एवं सोम्य स आदेशो भव-
 ति' इति वाक्योपक्रमे श्रवणात् । न च सच्छब्दवाच्ये प्र-
 धाने भोग्यवर्गकारणे हेयत्वेनाहेयत्वेन वा विज्ञाते भोक्तृव-
 र्गो विज्ञातो भवति, अप्रधानविकारत्वाद्भोक्तृवर्गस्य । तस्मा-
 न्न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्?—

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रकृत्य श्रूयते—'यत्रैतत्पु-
 रुषः स्वपिति नाम, सता सोम्य तदा संपन्नो भवति; स्व-
 मपीतो भवति; तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते; स्वं ह्यपीतो भ-
 वति' इति । एषा श्रुतिः स्वपितीत्येतत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं
 नाम निर्वक्ति । स्वशब्देनेहात्मोच्यते । यः प्रकृतः सच्छब्द-
 वाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः । अपिपूर्वस्यैतेर्ल-
 यार्थत्वं प्रसिद्धम्, प्रभवाप्ययावित्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगद-
 र्शनात् । मनःप्रचारोपाधिविशेषसंबन्धादिन्द्रियार्थान्गृह्यंस्त-

द्विशेषापन्नो जीवो जागर्ति; तद्वासनाविशिष्टः स्वप्नान्पश्य-
न्मनःशब्दवाच्यो भवति; स उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तावस्था-
यामुपाधिकृतविशेषाभावात्स्वात्मनि प्रलीन इवेति 'स्वं ह्यपी-
तो भवति' इत्युच्यते । यथा हृदयशब्दनिर्वचनं श्रुत्या द-
र्शितम्—'स वा एष आत्मा हृदि, तस्यैतदेव निरुक्तम्—
हृद्ययमिति; तस्मान्महृदयमिति'; यथा वाशनायोदन्याशब्द-
प्रवृत्तिमूलं दर्शयति श्रुतिः—'आप एव तदशितं नयन्ते'
'तेज एव तत्पीतं नयते' इति च; 'एवं स्वमात्मानं सच्छब्द-
वाच्यमपीतो भवति' इतीममर्थं स्वपितिनामनिर्वचनेन दर्श-
यति । न च चेतन आत्मा अचेतनं प्रधानं स्वरूपत्वेन प्रतिप-
द्येत । यदि पुनः प्रधानमेवात्मीयत्वात्स्वशब्देनैवोच्येत, एव-
मपि चेतनोऽचेतनमप्येतीति विरुद्धमापद्येत । श्रुत्यन्तरं च—
'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्'
इति सुषुप्तावस्थायां चेतने अप्ययं दर्शयति । अतो यस्मिन्न-
प्ययः सर्वेषां चेतनानां तच्चेतनं सच्छब्दवाच्यं जगतः कारणं
स्यात्, नाचेतनं प्रधानम् ॥

कुतश्च न प्रधानं जगतः कारणम्?—

गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

यदि तार्किकसमय इव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावग-

गतिरभविष्यत्, कचिच्चेतनं ब्रह्म जगतः कारणम्, कचि-
दचेतनं प्रधानम्, कचिदन्यदेवेति; ततः कदाचित्प्रधान-
कारणवादानुरोधेनापीक्षत्यादिश्रवणमकल्पयिष्यत् । न त्वे-
तदस्ति । समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणाव-
गतिः । ‘यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रति-
ष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते
प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः’ इति, ‘तस्माद्वा एतस्मा-
दात्मन आकाशः संभूतः’ इति, ‘आत्मन एवेदं सर्वम्’ इति,
‘आत्मन एष प्राणो जायते’ इति च आत्मनः कारणत्वं दर्श-
यन्ति सर्वे वेदान्ताः । आत्मशब्दश्च चेतनवचन इत्यवोचाम ।
महच्च प्रामाण्यकारणमेतत्, यद्वेदान्तवाक्यानां चेतनकार-
णत्वे समानगतित्वम्, चक्षुरादीनामिव रूपादिषु । अतो
गतिसमान्यात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम् ॥

कुतश्च सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्?—

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

स्वशब्देनैव च सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमिति श्रूयते,
श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि सर्वज्ञमीश्वरं प्रकृत्य— ‘स
कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः’

इति । तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्, नाचेतनं प्रधानमन्यद्वेति सिद्धम् ॥

‘जन्माद्यस्य यतः’ इत्यारभ्य ‘श्रुतत्वाच्च’ इत्येतदन्तैः सूत्रैर्यान्युदाहृतानि वेदान्तवाक्यानि, तेषां सर्वज्ञः सर्वशक्ति-रीश्वरो जगतो जन्मस्थितिप्रलयकारणमित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वं न्यायपूर्वकं प्रतिपादितम् । गतिसामान्योपन्यासेन च सर्वे वेदान्ताश्चेतनकारणवादिन इति व्याख्यातम् । अतः परस्य ग्रन्थस्य किमुत्थानमिति, उच्यते— द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते— नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टम्, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम् । ‘यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्’ ‘यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा; अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्; यो वै भूमा तदमृतम्; अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्’ ‘सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते’ ‘निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्’ ‘नेति नेति’ ‘अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्’ इति, ‘न्यूनमन्यत्स्थानं संपूर्णमन्यत्’ इति चैवं सहस्रशो विद्याविद्याविषयभेदेन ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति

वेदान्तवाक्यानि । तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासका-
दिलक्षणः सर्वो व्यवहारः । तत्र कानिचिद्ब्रह्मण उपासनान्य-
भ्युदयार्थानि, कानिचित्कर्ममुक्त्यर्थानि, कानिचित्कर्मसमृ-
द्धयर्थानि । तेषां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदः । एक एव तु
पर आत्मेश्वरस्तैस्तैर्गुणविशेषैर्विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति,
तथापि यथागुणोपासनमेव फलानि भिद्यन्ते; 'तं यथा
यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः; 'यथाऋतुरस्मिँल्लोके
पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति' इति च; स्मृतेश्च—
'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति
कौन्तेय सदा तद्भावभावितः' इति । यद्यप्येक आत्मा सर्व-
भूतेषु स्थावरजङ्गमेषु गूढः, तथापि चित्तोपाधिविशेषतारत-
म्यादात्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य
तारतम्यमैश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते— 'तस्य य आत्मान-
माविस्तरां वेद' इत्यत्र; स्मृतावपि— 'यद्यद्विभूतिमत्स-
त्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसं-
भवम्' इति यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशयः, स स ईश्वर इत्यु-
पास्यतया चोद्यते । एवमिहाप्यादित्यमण्डले हिरण्मयः
पुरुषः सर्वपाप्मोदयलिङ्गात्पर एवेति वक्ष्यति । एवम्
'आकाशस्तलिङ्गात्' इत्यादिषु द्रष्टव्यम् । एवं सद्योमुक्ति-

कारणमप्यात्मज्ञानमुपाधिविशेषद्वारेणोपदिश्यमानमप्यविव-
क्षितोपाधिसंबन्धविशेषं परापरविषयत्वेन संदिह्यमानं वाक्य-
गतिपर्यालोचनया निर्णेतव्यं भवति— यथेहैव तावत् ‘आ-
नन्दमयोऽभ्यासात्’ इति । एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधि-
संबन्धं निरस्तोपाधिसंबन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदा-
न्तेषूपदिश्यत इति प्रदर्शयितुं परो ग्रन्थ आरभ्यते । यच्च
‘गतिसामान्यात्’ इत्यचेतनकारणनिराकरणमुक्तम् , तदपि
वाक्यान्तराणि ब्रह्मविषयाणि व्याचक्षाणेन ब्रह्मविपरीतका-
रणनिषेधेन प्रपञ्च्यते—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

तैत्तिरीयके अन्नमयं प्राणमयं मनोमयं विज्ञानमयं चानु-
क्रम्यान्नायते— ‘तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर
६. आनन्दमया- आत्मानन्दमयः’ इति । तत्र संशयः—
धिकरणम् । किमिहानन्दमयशब्देन परमेव ब्रह्मोच्यते,
यत्प्रकृतम् ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इति, किं वा न्नमयादिवद्ब्र-
ह्मणोऽर्थान्तरमिति । किं तावत्प्राप्तम् ? ब्रह्मणोऽर्थान्तरममु-
ख्य आत्मानन्दमयः स्यात् । कस्मात् ? अन्नमयाद्यमुख्या-
त्मप्रवाहपतितत्वात् । अथापि स्यात्सर्वान्तरत्वादानन्दमयो मु-

ख्य एवात्मेति ; न स्यात्प्रियाद्यवयवयोगाच्छारीरत्वश्रवणाच्च । मुख्यश्चेदात्मा स्यान्न प्रियादिसंस्पर्शः स्यात् । इह तु 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादि श्रूयते । शारीरत्वं च श्रूयते— 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य' इति । तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैष एव शारीर आत्मा य एष आनन्दमय इत्यर्थः । न च सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियसंस्पर्शो वारयितुं शक्यः । तस्मात्संसार्येवानन्दमय आत्मेत्येवं प्राप्ते, इदमुच्यते—

'आनन्दमयोऽभ्यासात्' । पर एवात्मानन्दमयो भवितुमर्हति । कुतः? अभ्यासात् । परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते । आनन्दमयं प्रस्तुत्य 'रसो वै सः' इति तस्यैव रसत्वमुक्त्वा, उच्यते— 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति । को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति' 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कुतश्चन' इति ; 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति च । श्रुत्यन्तरे च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति ब्रह्मण्येवानन्दशब्दो दृष्टः । एवमानन्दशब्दस्य बहुकृत्वो ब्रह्मण्यभ्यासादानन्दमय आत्मा

ब्रह्मेति गम्यते । यत्तूक्तमन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वादा-
नन्दमयस्याप्यमुख्यत्वमिति, नासौ दोषः, आनन्दमयस्य स-
र्वान्तरत्वात् । मुख्यमेव ह्यात्मानमुपदिदिक्षु शास्त्रं लोकबु-
द्धिमनुसरत्, अन्नमयं शरीरमनात्मानमत्यन्तमूढानामात्म-
त्वेन प्रसिद्धमनूद्य मूपानिषिक्तद्रुतताम्नादिप्रतिमावत्ततोऽन्तरं
ततोऽन्तरमित्येवं पूर्वेण पूर्वेण समानमुत्तरमुत्तरमनात्मानमा-
त्मेति ग्राह्यत, प्रतिपत्तिसौकर्यापेक्षया सर्वान्तरं मुख्यमान-
न्दमयमात्मानमुपदिदेशेति श्लिष्टतरम । यथारुन्धतीदर्शने
बह्वीष्वपि तारास्वमुख्यास्वरुन्धतीषु दर्शितासु, या अन्त्या
प्रदर्श्यते सा मुख्यैवारुन्धती भवति; एवमिहाप्यानन्दमयस्य
सर्वान्तरत्वान्मुख्यमात्मत्वम् । यत्तु ब्रूषे, प्रियादीनां शिरस्त्वा-
दिकल्पनानुपपन्ना मुख्यस्यात्मन इति—अतीतानन्तरोपाधि-
जनिता सा; न स्वाभाविकीत्यदोषः । शारीरत्वमप्यानन्दम-
यस्यान्नमयादिशरीरपरम्परया प्रदर्श्यमानत्वान्; न पुनः सा-
क्षादेव शारीरत्वं संसारिवत् । तस्मादानन्दमयः पर एवा-
त्मा ॥

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

अत्राह— नानन्दमयः पर आत्मा भवितुमर्हति; क-
स्मान्? विकारशब्दात्; प्रकृतिवचनादयमन्यः शब्दो वि-

कारवचनः समधिगतः 'आनन्दमयः' इति, मयटो विकारार्थत्वात्; तस्मादन्नमयादिशब्दवद्विकारविषय एवायमानन्दमयशब्द इति चेत्, न; प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः स्मरणात् । 'तत्प्रकृतवचने मयट्' इति हि प्रचुरतायामपि मयट् स्मर्यते; यथा 'अन्नमयो यज्ञः' इत्यन्नप्रचुर उच्यते. एवमानन्दप्रचुरं ब्रह्मानन्दमयमुच्यते । आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वादारभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणात् । तस्मात्प्राचुर्यार्थे मयट् ॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

इतश्च प्राचुर्यार्थे मयट्; यस्मादानन्दहेतुत्वं ब्रह्मणो व्यपदिशति श्रुतिः— 'एष ह्येवानन्दयाति' इति— आनन्दयतीत्यर्थः । यो ह्यन्यानानन्दयति स प्रचुरानन्द इति प्रसिद्धं भवति; यथा लोके योऽन्येषां धनिकत्वमापादयति स प्रचुरधन इति गम्यते, तद्वत् । तस्मात्प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः संभवादानन्दमयः पर एवात्मा ॥

मान्नवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा; यस्मात् 'ब्रह्मविदाप्नोति

परम्' इत्युपक्रम्य, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यस्मिन्मन्त्रे यत् ब्रह्म प्रकृतं सत्यज्ञानानन्तविशेषणैर्निर्धारितम्, यस्मादाकाशादिक्रमेण स्थावरजङ्गमानि भूतान्यजायन्त, यच्च भूतानि सृष्ट्वा तान्यनुप्रविश्य गुहायामवस्थितं सर्वान्तरम्, यस्य विज्ञानाय 'अन्योऽन्तर आत्मा' 'अन्योऽन्तर आत्मा' इति प्रक्रान्तम्, तन्मान्त्रवर्णिकमेव ब्रह्मेह गीयते— 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' इति । मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वं युक्तम्, अविरोधात् । अन्यथा हि प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये स्याताम् । न चान्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्माभिधीयते । एतन्निष्ठैव च भार्गवी वारुणी विद्या— 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति । तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा, नेतरः ; इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः । न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते ; कस्मात् ? अनुपपत्तेः । आनन्दमयं हि प्रकृत्य श्रूयते— 'सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत । यदिदं किंच' इति । तत्र प्राक्शरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानम्, सृज्यमानानां च विका-

राणां स्रष्टुरव्यतिरेकः, सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनो-
ऽन्यत्रोपपद्यते ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

इतश्च नानन्दमयः संसारी; यस्मादानन्दमयाधिकारे
'रसो वै सः । रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इति जीवान-
न्दमयौ भेदेन व्यपदिशति । न हि लब्धैव लब्धव्यो भवति ।
कथं तर्हि 'आत्मान्वेष्टव्यः' 'आत्मलाभान्न परं विद्यते'
इति श्रुतिस्मृती, यावता न लब्धैव लब्धव्यो भवतीत्यु-
क्तम्? बाढम्— तथाप्यात्मनोऽप्रच्युतात्मभावस्यैव सतस्त-
त्त्वानवबोधनिमित्तो मिथ्यैव देहादिष्वनात्मसु आत्मत्व-
निश्चयो लौकिको दृष्टः । तेन देहादिभूतस्यात्मनोऽपि आत्मा
—अनन्विष्टः 'अन्वेष्टव्यः', अलब्धः 'लब्धव्यः', अश्रुतः
'श्रोतव्यः', अमतः 'मन्तव्यः', अविज्ञातः 'विज्ञा-
तव्यः'— इत्यादिभेदव्यपदेश उपपद्यते । प्रतिषिध्यत एव
तु परमार्थतः सर्वज्ञात्परमेश्वरादन्यो द्रष्टा श्रोता वा 'नान्यो-
ऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिना । परमेश्वरस्तु अविद्याकल्पिता-
च्छारीरात्कर्तुर्भोक्तुः विज्ञानात्माख्यात् अन्यः; यथा माया-
विनश्चर्मखङ्गधरात्सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी
परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः; यथा वा घटाकाशादुपाधिपरि-

च्छिन्नादनुपाधिपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः । ईदृशं च विज्ञानात्मपरमात्मभेदमाश्रित्य ‘नेतरोऽनुपपत्तेः’ ‘भेदव्यपदेशाच्च’ इत्युक्तम् ॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

आनन्दमयाधिकारे च ‘सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति’ इति कामयितृत्वनिर्देशाच्च नानुमानिकमपि सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानमानन्दमयत्वेन कारणत्वेन वा अपेक्षितव्यम् । ‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’ इति निराकृतमपि प्रधानं पूर्वसूत्रोदाहृतां कामयितृत्वश्रुतिमाश्रित्य प्रसङ्गात्पुनर्निराक्रियते गतिसामान्यप्रपञ्चनाय ॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

इतश्च न प्रधाने जीवे वानन्दमयशब्दः; यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि, प्रतिबुद्धस्यास्य जीवस्य, तद्योगं शास्ति— तदात्मना योगस्तद्योगः, तद्भावापत्तिः, मुक्तिरित्यर्थः— तद्योगं शास्ति शास्त्रम्— ‘यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति’ इति । एतदुक्तं भवति—

यदैतस्मिन्नानन्दमयेऽल्पमप्यन्तरमतादात्म्यरूपं पश्यति, तदा संसारभयान्न निवर्तते; यदा त्वेतस्मिन्नानन्दमये निरन्तरं तादात्म्येन प्रतितिष्ठति, तदा संसारभयान्निवर्तत इति । तच्च परमात्मपरिग्रहे घटते, न प्रधानपरिग्रहे जीवपरिग्रहे वा । तस्मादानन्दमयः परमात्मेति सिद्धम् ॥

इदं त्विह वक्तव्यम्— ‘स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः’ ‘तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः’ तस्मात् ‘अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः’ तस्मात् ‘अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः’ इति च विकारार्थे मयट्प्रवाहे सति, आनन्दमय एवाकस्मादर्धजरतीयन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं चाश्रीयत इति । मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेत्, न; अन्नमयादीनामपि तर्हि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः । अत्राह—युक्तमन्नमयादीनामब्रह्मत्वम्, तस्मात्तस्मादान्तरस्यान्तरस्यान्यस्यान्यस्यात्मन उच्यमानत्वात्; आनन्दमयात्तु न कश्चिदन्य आन्तर आत्मोच्यते; तेनानन्दमयस्य ब्रह्मत्वम्, अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गादिति । अत्रोच्यते— यद्यप्यन्नमयादिभ्य इवानन्दमयात् ‘अन्योऽन्तर आत्मा’ इति न श्रूयते, तथापि नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वम्; यत आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयते— ‘तस्य प्रियमेव शिरः,

मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति । तत्र यद्ब्रह्मेह मन्त्रवर्णे प्रकृतम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति, तदिह 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते । तद्विजिज्ञापयिष्यैवान्नमयादय आनन्दमय-पर्यन्ताः पञ्च कोशाः कल्पन्ते । तत्र कुतः प्रकृतहानाप्र-कृतप्रक्रियाप्रसङ्गः । नन्वानन्दमयस्यावयवत्वेन 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते, अन्नमयादीनामिव 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यादि; तत्र कथं ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वं शक्यं विज्ञातुम्? प्रकृतत्वादिति ब्रूमः । नन्वानन्दमयावयवत्वेनापि ब्रह्मणि विज्ञायमाने न प्रकृतत्वं हीयते, आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वादिति; अत्रोच्यते— तथा सति तदेव ब्रह्म आनन्दमय आत्मा अवयवी, तदेव च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा अवयव इत्यसामञ्ज-स्यं स्यात् । अन्यतरपरिग्रहे तु, युक्तम् 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्रैव ब्रह्मनिर्देश आश्रयितुम्, ब्रह्मशब्दसंयोगात् ; नानन्द-मयवाक्ये, ब्रह्मशब्दसंयोगाभावादिति । अपि च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्युक्त्वेदमुच्यते— 'तदप्येष श्लोको भवति । असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुः' इति । अस्मिञ्च श्लोकेऽननुकृष्यानन्द-मयं ब्रह्मण एव भावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानाद्गम्यते—

‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ इत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति । न चानन्दमयस्यात्मनो भावाभावाशङ्का युक्ता, प्रियमोदादिविशिष्टस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् । कथं पुनः स्वप्रधानं सद्ब्रह्म आनन्दमयस्य पुच्छत्वेन निर्दिश्यते— ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ इति? नैष दोषः । पुच्छवत्पुच्छम्, प्रतिष्ठा परायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्दः इत्येतदनेन विवक्ष्यते, नावयवत्वम्; ‘एतस्यैवानन्दस्थान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति’ इति श्रुत्यन्तरात् । अपि चानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम्; निर्विशेषं तु ब्रह्म वाक्यशेषे श्रूयते, वाङ्मनसयोरगोचरत्वाभिधानात्— ‘यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न विभेति कुतश्चन’ इति । अपि चानन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःखाल्पीयस्त्वमपि गम्यते; प्राचुर्यस्य लोके प्रतियोग्यल्पत्वापेक्षत्वात् । तथा च सति ‘यत्र नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति, स भूमा’ इति भूमिं ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपरुध्येत । प्रतिशरीरं च प्रियादिभेदादानन्दमयस्य भिन्नत्वम्; ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते, ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इत्यानन्त्यश्रुतेः ‘एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा’

इति च श्रुत्यन्तरात् । न चानन्दमयाभ्यासः श्रूयते ।
 प्रातिपदिकार्थमात्रमेव हि सर्वत्राभ्यस्यते— ‘रसो वै सः ।
 रसः ह्येवायं लब्धवानन्दी भवति । को ह्येवान्यात्कः प्रा-
 ण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्’ ‘सैषानन्दस्य
 मीमांसा भवति’ ‘आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कुत-
 श्चन’ इति ‘आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्’ इति च । यदि चा-
 नन्दमयशब्दस्य ब्रह्मविषयत्वं निश्चितं भवेत्, तत उत्तरेष्वान-
 नन्दमात्रप्रयोगेष्वप्यानन्दमयाभ्यासः कल्प्येत; न त्वानन्द-
 मयस्य ब्रह्मत्वमस्ति, प्रियशिरस्त्वादिभिर्हेतुभिरित्यवोचाम;
 तस्माच्छ्रुत्यन्तरे ‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ इत्यानन्दपदप्रातिप-
 दिकस्य ब्रह्मणि प्रयोगदर्शनात्, ‘यदेष आकाश आनन्दो
 न स्यात्’ इति ब्रह्मविषयः प्रयोगो न त्वानन्दमयाभ्यास
 इत्यवगन्तव्यम् । यस्त्वयं मयडन्तस्यैवानन्दमयशब्दस्याभ्या-
 सः ‘एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति’ इति, न तस्य
 ब्रह्मविषयत्वमस्ति; विकारात्मनामेवान्नमयादीनामनात्मना-
 मुपसंक्रामितव्यानां प्रवाहे पतितत्वात् । नन्वानन्दमयस्योप-
 संक्रामितव्यस्यान्नमयादिवद्ब्रह्मत्वे सति नैव विदुषो ब्रह्मप्रा-
 प्तिः फलं निर्दिष्टं भवेत् । नैष दोषः, आनन्दमयोपसंक्रमण-
 निर्देशेनैव विदुषः पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तेः फलस्य निर्दिष्ट-

त्वान्, 'तदप्येष श्लोको भवति' 'यतो वाचो निवर्तन्ते'
 इत्यादिना च प्रपञ्च्यमानत्वान् । या त्वानन्दमयसंनिधाने
 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' इतीयं श्रुतिरुदाहृता,
 सा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यनेन संनिहिततरेण ब्रह्मणा संब-
 ध्यमाना नानन्दमयस्य ब्रह्मतां प्रतिबोधयति । तदपेक्षत्वाच्चो-
 त्तरस्य ग्रन्थस्य 'रसो वै सः' इत्यादेर्नानन्दमयविषयता ।
 ननु 'सोऽकामयत' इति ब्रह्मणि पुंलिङ्गनिर्देशो नोपपद्यते ।
 नायं दोषः, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः'
 इत्यत्र पुंलिङ्गेनाप्यात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् । यत्तु
 भार्गवी वारुणी विद्या— 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'
 इति, तस्यां मयडश्रवणात्प्रियशिरस्त्वाद्यश्रवणाच्च युक्तमान-
 न्दस्य ब्रह्मत्वम् । तस्मादणुमात्रमपि विशेषमनाश्रित्य न स्व-
 त एव प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्मण उपपद्यते । न चेह सविशेषं
 ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितम्, वाङ्मनसगोचरातिक्रमणश्रुतेः ।
 तस्मादन्नमयादिष्विवानन्दमयेऽपि विकारार्थ एव मयद्
 विज्ञेयः, न प्राचुर्यार्थः ॥

सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि— 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्य-
 त्र किमानन्दमयावयवत्वेन ब्रह्म विवक्ष्यते, उत स्वप्रधान-
 त्वेनेति । पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्ते, उच्यते— आन-

न्दमयोऽभ्यासात् — आनन्दमय आत्मा इत्यत्र ‘ब्रह्म
 पुच्छं प्रतिष्ठा’ इति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते; अभ्या-
 सात् ‘असन्नेव स भवति’ इत्यस्मिन्निगमनश्लोके ब्रह्मण
 एव केवलस्याभ्यस्यमानत्वात् । विकारशब्दान्नेति चेन्न
 प्राचुर्यात्— विकारशब्दोऽवयवशब्दोऽभिप्रेतः; पुच्छमि-
 त्यवयवशब्दान्न स्वप्रधानत्वं ब्रह्मण इति यदुक्तम्, तस्य परि-
 हारो वक्तव्यः; अत्रोच्यते— नायं दोषः, प्राचुर्यादवयव-
 यवशब्दोपपत्तेः; प्राचुर्यं प्रायापत्तिः, अवयवप्राये वचन-
 मिल्यर्थः; अन्नमयादीनां हि शिरआदिषु पुच्छान्तेष्व-
 वयवेषूक्तेष्वानन्दमयस्यापि शिरआदीन्यवयवान्तराण्युक्त्वा
 अवयवप्रायापत्त्या ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ इत्याह, नावयव-
 विवक्षया; यत्कारणम् ‘अभ्यासात्’ इति स्वप्रधानत्वं ब्रह्म-
 णः समर्थितम् । तद्धेतुव्यपदेशाच्च — सर्वस्य हि वि-
 कारजातस्य आनन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म व्यपदिश्यते—
 ‘इदं सर्वमसृजत, यदिदं किंच’ इति । न च कारणं सद्ब्रह्म
 स्वविकारस्यानन्दमयस्य मुख्यया वृत्त्यावयव उपपद्यते ।
 अपराण्यपि सूत्राणि यथासंभवं पुच्छवाक्यनिर्दिष्टस्यैव
 ब्रह्मण उपपादकानि द्रष्टव्यानि ॥

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥

इदमाम्नायते— ‘अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आ प्रणखात्सर्व-
 ७. अन्तरधि- एव सुवर्णः’ ‘तस्य यथा कप्यासं पु-
 करणम् । ण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स
 एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः
 पाप्मभ्यो य एवं वेद’ इत्यधिदैवतम् । अथाध्यात्ममपि
 ‘अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते’ इत्यादि ।
 तत्र संशयः— किं विद्याकर्मातिशयवशात्प्राप्तोत्कर्षः क-
 श्चित्संसारि सूर्यमण्डले चक्षुषि चोपास्यत्वेन श्रूयते,
 किं वा नित्यसिद्धः परमेश्वरः? इति । किं तावत्प्राप्तम्?
 संसारीति । कुतः? रूपवत्त्वश्रवणात् । आदित्यपुरुषे
 तावत् ‘हिरण्यश्मश्रुः’ इत्यादि रूपमुदाहृतम्; अक्षिपुरु-
 षेऽपि तदेवातिदेशेन प्राप्यते ‘तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य
 रूपम्’ इति । न च परमेश्वरस्य रूपवत्त्वं युक्तम्, ‘अश-
 व्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्’ इति श्रुतेः; आधारश्रवणाच्च— ‘य
 एषोऽन्तरादित्ये य एषोऽन्तरक्षिणि’ इति । न ह्यनाधारस्य
 स्वमहिमप्रतिष्ठितस्य सर्वव्यापिनः परमेश्वरस्याधार उपदि-
 श्येत । ‘स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि’ इति
 ‘आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः’ इति च श्रुती भवतः । ऐश्वर-

र्यमर्यादाश्रुतेश्च— ‘स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोका-
स्तेषां चेष्टे देवकामानां च’ इत्यादित्यपुरुषस्य ऐश्वर्यम-
र्यादा; ‘स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्य-
कामानां च’ इत्यक्षिपुरुषस्य । न च परमेश्वरस्य म-
र्यादावदैश्वर्यं युक्तम्; ‘एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष
भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय’ इत्य-
विशेषश्रुतेः । तस्मान्नाक्ष्यादित्ययोरन्तः परमेश्वर इत्येवं
प्राप्ते—

ब्रूमः—अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् इति । ‘य एषोऽन्तरादित्ये’
‘य एषोऽन्तरक्षिणि’ इति च श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वर एव,
न संसारी । कुतः? तद्धर्मोपदेशात् । तस्य हि परमेश्वरस्य
धर्मा इहोपदिष्टाः । तद्यथा—‘तस्योदिति नाम’ इति श्राव-
यित्वा तस्यादित्यपुरुषस्य नाम ‘स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य
उदितः’ इति सर्वपाप्मापगमेन निर्वक्ति । तदेव च कृतनि-
र्वचनं नामाक्षिपुरुषस्याप्यतिदिशति—‘यन्नाम तन्नाम’
इति । सर्वपाप्मापगमश्च परमात्मन एव श्रूयते—‘य आ-
त्मापहतपाप्मा’ इत्यादौ । तथा चाक्षुषे पुरुषे ‘सैव ऋक् त-
त्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म’ इति ऋक्सामाद्यात्मकतां निर्धा-
रयति । सा च परमेश्वरस्योपपद्यते, सर्वकारणत्वात्सर्वात्मक-

त्वोपपत्तेः । पृथिव्यग्न्याद्यात्मके चाधिदैवतमृक्सामे, वाक्प्राणाद्यात्मके चाध्यात्ममनुक्रम्याह—‘तस्यर्क्च साम च गेष्णौ’ इत्यधिदैवतम् । तथाध्यात्ममपि—‘यामुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ’ इति । तच्च सर्वात्मकत्वे सत्येवोपपद्यते । ‘तद्य इमे व्रीणायां गायन्त्येतं त्वेव ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः’ इति च लौकिकेष्वपि गानेष्वस्यैव गीयमानत्वं दर्शयति । तच्च परमेश्वरपरिग्रह एव घटते—‘यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोशसंभवम्’ इति भगवद्गीतादर्शनात् । लोककामेशितृत्वमपि निरङ्कुशं श्रूयमाणं परमेश्वरं गमयति । यत्तूक्तं हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपवत्त्वश्रवणं परमेश्वरे नोपपद्यत इति, अत्र ब्रूमः— स्यात्परमेश्वरस्यापीच्छावशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्, ‘माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद । सर्वभूतगुणैर्युक्तं मैवं मां ज्ञातुमर्हसि’ इति स्मरणात् । अपि च, यत्र तु निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपमुपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम् ‘अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्’ इत्यादि । सर्वकारणत्वात्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद्विशिष्टः परमेश्वर उपास्यत्वेन निर्दिश्यते—‘सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः’ इत्यादिना । तथा हिरण्यश्मश्रुत्वादिनिर्देशोऽपि भविष्यति । यदप्याधारश्रवणान्न परमेश्वर इति, अत्रोच्यते— स्वमहिमप्रतिष्ठस्थाप्याधारविशेषोपदेश उपास-

नार्थो भविष्यति ; सर्वगतत्वाद्ब्रह्मणो व्योमवत्सर्वान्तरत्वोप-
पत्तेः । ऐश्वर्यमर्यादाश्रवणमप्यध्यात्माधिदैवतविभागापेक्षमु-
पासनार्थमेव । तस्मात्परमेश्वर एवाक्ष्यादित्ययोरन्तरूपदि-
श्यते ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

अस्ति चादित्यादिशरीराभिमानिभ्यो जीवेभ्योऽन्य ईश्व-
रोऽन्तर्यामी— ‘य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादि-
त्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष
त आत्मान्तर्याम्यमृतः’ इति श्रुत्यन्तरे भेदव्यपदेशात् । तत्र
हि ‘आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद’ इति वेदितुरादि-
त्याद्विज्ञानात्मनोऽन्योऽन्तर्यामी स्पष्टं निर्दिश्यते । स एवे-
हाप्यन्तरादित्ये पुरुषो भवितुमर्हति, श्रुतिसामान्यात् ।
तस्मात्परमेश्वर एवेहोपदिश्यत इति सिद्धम् ॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

इदमामनन्ति ‘अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति
होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्प-
८. आकाश- यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो
धिकरणम् । ज्यायानाकाशः परायणम्’ इति । तत्र
संशयः— किमाकाशशब्देन परं ब्रह्माभिधीयते, उत भूता-

काशमिति । कुतः संशयः? उभयत्र प्रयोगदर्शनात् । भूत-
विशेषे तावत्सुप्रसिद्धो लोकवेदयोरकाशशब्दः । ब्रह्मण्यपि
क्वचित्प्रयुज्यमानो दृश्यते, यत्र वाक्यशेषवशादसाधारणगु-
णश्रवणाद्वा निर्धारितं ब्रह्म भवति— यथा ‘यदेष आकाश
आनन्दो न स्यात्’ इति ‘आकाशो ह वै नाम नामरूपयो-
निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म’ इति चैवमादौ । अतः
संशयः । किं पुनरत्र युक्तम्? भूताकाशमिति । कुतः? तद्धि
प्रसिद्धतरेण प्रयोगेण शीघ्रं बुद्धिमारोहति । न चायमा-
काशशब्द उभयोः साधारणः शक्यो विज्ञातुम् , अनेकार्थत्व-
प्रसङ्गात् । तस्माद्ब्रह्मणि गौण एव आकाशशब्दो भवितुमर्हति ।
विभुत्वादिभिर्हि बहुभिर्धर्मैः सदृशमाकाशेन ब्रह्म भवति ।
न च मुख्यसंभवे गौणोऽर्थो ग्रहणमर्हति । संभवति चेह
मुख्यस्यैवाकाशस्य ग्रहणम् । ननु भूताकाशपरिग्रहे वाक्य-
शेषो नोपपद्यते— ‘सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशा-
देव समुत्पद्यन्ते’ इत्यादिः; नैष दोषः, भूताकाशस्यापि वा-
ग्वदिक्रमेण कारणत्वोपपत्तेः । विज्ञायते हि— ‘तस्माद्वा
एतस्मादात्मन आकाशः संभूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः’
इत्यादि । ज्यायस्त्वपरायणत्वे अपि भूतान्तरापेक्ष्योपपद्यते
भूताकाशस्यापि । तस्मादाकाशशब्देन भूताकाशस्य ग्रहणमि-
त्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः— आकाशस्तल्लिङ्गात् । आकाशशब्दनेह ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम् । कुतः? तल्लिङ्गात् । परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम्— ‘सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते’ इति । परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा । ननु भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वं दर्शितम् । सत्यं दर्शितम् । तथापि मूलकारणस्य ब्रह्मणोऽपरिग्रहात्, आकाशादेवेत्यवधारणं सर्वाणीति च भूतविशेषणं नानुकूलं स्यात् । तथा ‘आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति’ इति ब्रह्मलिङ्गम्, ‘आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्’ इति च ज्यायस्त्वपरायणत्वे । ज्यायस्त्वं ह्यनापेक्षिकं परमात्मन्येवैकस्मिन्नाम्नातम्—‘ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः’ इति । तथा परायणत्वमपि परमकारणत्वात्परमात्मन्येव उपपन्नतरं भवति । श्रुतिश्च— ‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम्’ इति । अपि चान्तवत्त्वदोषेण शालावत्यस्य पक्षं निन्दित्वा, अनन्तं किञ्चिद्वक्तुकामेन जैवल्लिनाकाशः परिगृहीतः; तं चाकाशमुद्गीथे संपाद्योपसंहरति— ‘स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः’ इति । तच्चानन्त्यं ब्रह्मलिङ्गम् । यत्पुनरुक्तं भूताकाशं प्रसिद्धिबलेन प्रथमतः

प्रतीयत इति, अत्र ब्रूमः— प्रथमतः प्रतीतमपि तद्वाक्य-
शेषगतान्ब्रह्मगुणान्दृष्ट्वा न परिगृह्यते । दर्शितश्च ब्रह्म-
ण्यप्याकाशशब्दः ‘आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्नि-
र्वहिता’ इत्यादौ । तथाकाशपर्यायवाचिनामपि ब्रह्मणि
प्रयोगो दृश्यते— ‘ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मि-
न्देवा अधि विश्वे निषेदुः’ ‘सैषा भार्गवी वारुणी
विद्या परमे व्योमन्प्रतिष्ठिता’ ‘ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म’
‘खं पुराणम्’ इति चैवमादौ । वाक्योपक्रमेऽपि वर्त-
मानस्याकाशशब्दस्य वाक्यशेषवशाद्युक्ता ब्रह्मविषयत्वाव-
धारणा । ‘अग्निरधीतेऽनुवाकम्’ इति हि वाक्योपक्रम-
गतोऽप्यग्निशब्दो माणवकविषयो दृश्यते । तस्मादाकाश-
शब्दं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥

अत एव प्राणः ॥ २३ ॥

उद्गीथे— ‘प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता’ इत्यु-
पक्रम्य श्रूयते— ‘कतमा सा देवतेति, प्राण इति होवाच,

९. प्राणाधि- सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमे-
करणम् । वाभिसंविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते, सैषा
देवता प्रस्तावमन्वायत्ता’ इति । तत्र संशयनिर्णयौ पूर्व-
वदेव द्रष्टव्यौ । ‘प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः’ ‘प्राणस्य

प्राणम्' इति चैवमादौ ब्रह्मविषयः प्राणशब्दो दृश्यते ; वायुविकारे तु प्रसिद्धतरो लोकवेदयोः ; अत इह प्राणशब्देन कतरस्योपादानं युक्तमिति भवति संशयः । किं पुनरत्र युक्तम् ? वायुविकारस्य पञ्चवृत्तेः प्राणस्योपादानं युक्तम् । तत्र हि प्रसिद्धतरः प्राणशब्द इत्यवोचाम । ननु पूर्ववदिहापि तल्लिङ्गाद्ब्रह्मण एव ग्रहणं युक्तम् । इहापि हि वाक्यशेषे भूतानां संवेशनोद्गमनं पारमेश्वरं कर्म प्रतीयते । न, मुख्येऽपि प्राणे भूतसंवेशनोद्गमनस्य दर्शनात् । एवं ह्याम्नायते— 'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वाग-
प्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः, स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते' इति । प्रत्यक्षं चैतत्— स्वाप-
काले प्राणवृत्तावपरिलुप्यमानायामिन्द्रियवृत्तयः परिलुप्यन्ते, प्रबोधकाले च पुनः प्रादुर्भवन्तीति । इन्द्रियसारत्वाच्च भूता-
नामविरुद्धो मुख्ये प्राणेऽपि भूतसंवेशनोद्गमनवादी वाक्य-
शेषः । अपि चादित्योऽन्नं चोद्गीथप्रतिहारयोर्देवते प्रस्ताव-
देवतायाः प्राणस्यानन्तरं निर्दिश्येते ; न च तयोर्ब्रह्मत्व-
मस्ति ; तत्सामान्याच्च प्राणस्यापि न ब्रह्मत्वमित्येवं प्राप्ते—

सूत्रकार आह— अत एव प्राणः इति । तल्लिङ्गा-
दिति पूर्वसूत्रे निर्दिष्टम् । अत एव तल्लिङ्गात्प्राणशब्दमपि परं

ब्रह्म भवितुमर्हति । प्राणस्यापि हि ब्रह्मलिङ्गसंबन्धः श्रूयते—
 ‘सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति
 प्राणमभ्युज्जिहते’ इति । प्राणनिमित्तौ सर्वेषां भूतानामुत्प-
 त्तिप्रलयवुच्यमानौ प्राणस्य ब्रह्मतां गमयतः । ननूक्तं
 मुख्यप्राणपरिग्रहेऽपि संवेशनोद्गमनदर्शनमविरुद्धम्, स्वापप्र-
 बोधयोर्दर्शनादिति । अत्रोच्यते— स्वापप्रबोधयोरिन्द्रियाणा-
 मेव केवलानां प्राणाश्रयं संवेशनोद्गमनं दृश्यते, न सर्वेषां
 भूतानाम्; इह तु सेन्द्रियाणां सशरीराणां च जीवाविष्टा-
 नां भूतानाम्, ‘सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि’ इति श्रुतेः ।
 यदापि भूतश्रुतिर्महाभूतविषया परिगृह्यते, तदापि ब्रह्मलिङ्ग-
 त्वमविरुद्धम् । ननु सहापि विषयैरिन्द्रियाणां स्वापप्रबो-
 धयोः प्राणेऽप्ययं प्राणाच्च प्रभवं शृणुमः— ‘यदा सुप्तः
 स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदै-
 वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति’ इति । तत्रापि तल्लिङ्गात्प्राणश-
 ब्दं ब्रह्मैव । यत्पुनरुक्तमन्नादित्यसंनिधानात्प्राणस्याब्रह्मत्वमिति,
 तद्युक्तम्; वाक्यशेषबलेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मविषयतायां
 प्रतीयमानायां संनिधानस्याकिंचित्करत्वान् । यत्पुनः प्राण-
 शब्दस्य पञ्चवृत्तौ प्रसिद्धतरत्वम्, तदाकाशशब्दस्येव प्रति-
 विधेयम् । तस्मात्सिद्धं प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्य ब्रह्मत्वम् ॥

अत्र केचिदुदाहरन्ति— ‘प्राणस्य प्राणम्’ ‘प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः’ इति च । तदयुक्तम् ; शब्दभेदात्प्रकरणाच्च संशयानुपपत्तेः । यथा पितुः पितेति प्रयोगे, अन्यः पिता षष्ठीनिर्दिष्टान्, प्रथमानिर्दिष्टः, पितुः पिता इति गम्यते ; तद्वन् ‘प्राणस्य प्राणम्’ इति शब्दभेदात्प्रसिद्धात्प्राणात् अन्यः प्राणस्य प्राण इति निश्चीयते । न हि स एव तम्येति भेदनिर्देशार्हो भवति । यस्य च प्रकरणे यो निर्दिश्यते नामान्तरेणापि स एव तत्र प्रकरणी निर्दिष्ट इति गम्यते ; यथा ज्योतिष्टोमाधिकारे ‘वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत’ इत्यत्र ज्योतिःशब्दो ज्योतिष्टोमविषयो भवति, तथा परस्य ब्रह्मणः प्रकरणे ‘प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः’ इति श्रुतः प्राणशब्दो वायुविकारमात्रं कथमवगमयेत् । अतः संशयाविषयत्वान्नैतदुदाहरणं युक्तम् । प्रस्तावदेवतायां तु प्राणे संशयपूर्वपक्षनिर्णया उपपादिताः ॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

इदमामनन्ति— ‘अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव १०. ज्योतिश्चरणा- तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः’ इति । धिकरणम् । तत्र संशयः— किमिह ज्योतिःशब्देनादि-

त्यादिकं ज्योतिरभिधीयते, किं वा पर आत्मा ? इति । अर्था-
 न्तरविषयस्यापि प्राणशब्दस्य तल्लिङ्गाद्ब्रह्मविषयत्वमुक्तम् ।
 इह तु तल्लिङ्गमेवास्ति नास्तीति विचार्यते । किं तावत्प्राप्तम् ?
 आदित्यादिकमेव ज्योतिःशब्देन परिगृह्यत इति । कुतः ?
 प्रसिद्धेः । तमो ज्योतिरिति हीमौ शब्दौ परस्परप्रतिद्वन्द्व-
 विषयौ प्रसिद्धौ । चक्षुर्वृत्तेर्निरोधकं शार्वरादिकं तम उच्य-
 ते । तस्या एवानुप्राहकमादित्यादिकं ज्योतिः । तथा ' दीप्यते '
 इतीयमपि श्रुतिरादित्यादिविषया प्रसिद्धा । न हि रूपादि-
 हीनं ब्रह्म दीप्यत इति मुख्यां श्रुतिमर्हति । द्युमर्यादत्वश्रुते-
 श्च । न हि चराचरबीजस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकस्य द्यौर्मर्यादा
 युक्ता ; कार्यस्य तु ज्योतिषः परिच्छिन्नस्य द्यौर्मर्यादा
 स्यात् । ' परो दिवो ज्योतिः ' इति च ब्राह्मणम् । ननु
 कार्यस्यापि ज्योतिषः सर्वत्र गम्यमानत्वाद्द्युमर्यादावत्त्वम-
 समञ्जसम् ; अस्तु तर्हीत्रिवृत्कृतं तेजः प्रथमजम् ; न, अत्रि-
 वृत्कृतस्य तेजसः प्रयोजनाभावादिति । इदमेव प्रयोजनं यदु-
 पास्यत्वमिति चेत्, न ; प्रयोजनान्तरप्रयुक्तस्यैवादित्यादेरूपा-
 स्यत्वदर्शनात्, ' तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि ' इति
 चाविशेषश्रुतेः । न चात्रिवृत्कृतस्यापि तेजसो द्युमर्यादत्वं
 प्रसिद्धम् । अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृतमेव तत्तेजो ज्योतिःशब्दम् ।
 ननूक्तमर्वागपि दिवोऽवगम्यतेऽग्न्यादिकं ज्योतिरिति ; नैष

दोषः ; सर्वत्रापि गम्यमानस्य ज्योतिषः ‘परो दिवः’ इत्यु-
पासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते । न तु निष्प्रदेश-
स्यापि ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना भागिनी । ‘सर्वतः पृष्ठे-
ष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु’ इति चाधारबहुत्वश्रुतिः कार्ये ज्यो-
तिष्युपपद्यतेतराम् । ‘इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे
ज्योतिः’ इति च कौश्लेये ज्योतिषि परं ज्योतिरध्यस्यमानं
दृश्यते । सारूप्यनिमित्ताध्यासा भवन्ति— यथा ‘तस्य
भूरिति शिर एकं हि शिर एकमेतदक्षरम्’ इति । कौश्लेयस्य तु
ज्योतिषः प्रसिद्धमब्रह्मत्वम् । ‘तस्यैषा दृष्टिः’ ‘तस्यैषा श्रुतिः’
इति चौष्ण्यघोषविशिष्टत्वस्य श्रवणात् । ‘तदेतद्दृष्टं च श्रुतं
चेत्युपासीत’ इति च श्रुतेः । ‘चक्षुष्यश्च श्रुतो भवति य
एवं वेद’ इति चाल्पफलश्रवणादब्रह्मत्वम् । महते हि
फलाय ब्रह्मोपासनमिष्यते । न चान्यदपि किञ्चित्स्ववाक्ये
प्राणाकाशवज्ज्योतिषोऽस्ति ब्रह्मत्वलिङ्गम् । न च पूर्वस्मिन्नपि
वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टमस्ति, ‘गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्’
इति च्छन्दोनिर्देशात् । अथापि कथञ्चित्पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्रह्म
निर्दिष्टं स्यात्, एवमपि न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्ति । तत्र
हि ‘त्रिपादस्यामृतं दिवि’ इति द्यौरधिकरणत्वेन श्रूयते ;
अत्र पुनः ‘परो दिवो ज्योतिः’ इति द्यौर्मर्यादात्वेन ।
तस्मात्प्राकृतं ज्योतिरिह ग्राह्यमित्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः— ज्योतिरिह ब्रह्म ग्राह्यम् । कुतः? चरणाभिधानान्, पादाभिधानादित्यर्थः । पूर्वस्मिन्निह वाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्म निर्दिष्टम्— ‘तावानस्य महिमा ततो ज्यायाश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि’ इत्यनेन मन्त्रेण । तत्र यच्चतुष्पदो ब्रह्मणस्त्रिपादमृतं द्युसंबन्धिरूपं निर्दिष्टम्, तदेवेह द्युसंबन्धान्निर्दिष्टमिति प्रत्यभिज्ञायते । तत्परित्यज्य प्राकृतं ज्योतिः कल्पयतः प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम् । न केवलं ज्योतिर्वाक्य एव ब्रह्मानुवृत्तिः ; परस्यामपि हि शाण्डिल्यविद्यायामनुवर्तिष्यते ब्रह्म । तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । यत्तूक्तम्— ‘ज्योतिर्दीप्यते’ इति चैतौ शब्दौ कार्ये ज्योतिषि प्रसिद्धाविति, नायं दोषः ; प्रकरणाद्ब्रह्मावगमे सत्यनयोः शब्दयोरविशेषकत्वान्, दीप्यमानकार्यज्योतिरूपलक्षिते ब्रह्मण्यपि प्रयोगसंभवान् ; ‘येन सूर्यस्तपति तेजसेद्भः’ इति च मन्त्रवर्णान् । यद्वा, नायं ज्योतिःशब्दश्चक्षुर्वृत्तेरेवानुग्राहके तेजसि वर्तते, अन्यत्रापि प्रयोगदर्शनान्— ‘वाचैवायं ज्योतिषाम्ते’ ‘मनो ज्योतिर्जुषताम्’ इति च । तस्माद्यद्यत्कस्यचिदवभासकं तत्तज्ज्योतिःशब्देनाभिधीयते । तथा सति ब्रह्मणोऽपि चैतन्यरूपस्य समस्तजगदवभासहेतुत्वादुपपन्नो ज्योतिःशब्दः ।

‘तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति’
‘तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्’ इत्यादिश्रुति-
भ्यश्च । यदप्युक्तं द्युमर्यादत्वं सर्वगतस्य ब्रह्मणो नोपपद्यत
इति, अत्रोच्यते—सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपासनार्थः प्रदेशवि-
शेषपरिग्रहो न विरुध्यते । ननूक्तं निष्प्रदेशस्य ब्रह्मणः प्रदेश-
विशेषकल्पना नोपपद्यत इति ; नायं दोषः, निष्प्रदेशस्यापि
ब्रह्मण उपाधिविशेषसंबन्धात्प्रदेशविशेषकल्पनोपपत्तेः । तथा
हि—आदित्ये, चक्षुषि, हृदये इति प्रदेशविशेषसंबन्धीनि
ब्रह्मणः उपासनानि श्रूयन्ते । एतेन ‘विश्रुतः पृष्ठेषु’ इत्या-
धारबहुत्वमुपपादितम् । यदप्येतदुक्तम् औष्ण्यघोषाभ्यामनु-
मिते कौक्षेये कार्ये ज्योतिष्यध्यस्यमानत्वात्परमपि दिवः कां-
र्यज्योतिरेवेति, तदप्ययुक्तम् ; परस्यापि ब्रह्मणो नामादि-
प्रतीकत्ववत्कौक्षेयज्योतिष्प्रतीकत्वोपपत्तेः । ‘दृष्टं च श्रुतं चे-
त्युपासीत’ इति तु प्रतीकद्वारकं दृष्टत्वं श्रुतत्वं च भविष्यति ।
यदप्युक्तमल्पफलश्रवणाच्च न ब्रह्मेति, तदनुपपन्नम् ; न हि
इयते फलाय ब्रह्माश्रयणीयम्, इयते न इति नियमे हेतुरस्ति ।
यत्र हि निरस्तसर्वविशेषसंबन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेनोपदिश्यते,
तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते । यत्र तु गुणविशे-
षसंबन्धं प्रतीकविशेषसंबन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसा-

रगोचराण्येवोच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते— ‘अत्रादो वसु-
दानो विन्दते वसु य एवं वेद’ इत्याद्यासु श्रुतिषु । यद्यपि न
म्बवाक्ये किञ्चिज्ज्योतिषो ब्रह्मत्वलिङ्गमस्ति, तथापि पूर्वस्मि-
न्वाक्ये दृश्यमानं ग्रहीतव्यं भवति । तदुक्तं सूत्रकारेण—ज्यो-
तिश्चरणाभिधानादिति । कथं पुनर्वाक्यान्तरगतेन ब्रह्मसंनि-
धानेन ज्योतिःश्रुतिः म्बविषयात् शक्या प्रचयावयितुम् ?
नैष दोषः, ‘अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः’ इति प्रथमत-
पठितेन यच्छब्देन सर्वनाम्ना नुसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायमाने
पूर्ववाक्यनिर्दिष्टे ब्रह्मणि स्वसामर्थ्येन परामृष्टे सत्यर्था-
ज्ज्योतिःशब्दस्यापि ब्रह्मविषयत्वोपपत्तेः । तस्मादिह ज्यो-
तिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् ॥

**छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्षण-
निगदान्तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥**

अथ यदुक्तं पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये न ब्रह्माभिहितमस्ति,
‘गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च’ इति गायत्र्या-
ख्यस्य च्छन्दसोऽभिहितत्वादिति; तत्परिहर्तव्यम् । कथं
पुनश्छन्दोभिधानान्न ब्रह्माभिहितमिति शक्यते वक्तुम् ?
यावता ‘तावानस्य महिमा’ इत्येतस्यामृचि चतुष्पाद्ब्रह्म
दर्शितम् । नैतदस्ति । ‘गायत्री वा इदं सर्वम्’ इति

गायत्रीमुपक्रम्य, तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणप्रभेदै-
 र्याख्याय, 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्य-
 नूक्तं तावानस्य महिमा' इति तस्यामेव व्याख्यातरूपायां
 गायत्र्यामुदाहृतो मन्त्रः कथमकस्माद्ब्रह्म चतुष्पादभिद-
 ध्यात् । योऽपि तत्र 'यद्वै तद्ब्रह्म' इति ब्रह्मशब्दः, सोऽपि
 च्छन्दसः प्रकृतत्वाच्छन्दोविषय एव । 'य एतामेवं ब्रह्मो-
 पनिषदं वेद' इत्यत्र हि वेदोपनिषदमिति व्याचक्षते ।
 तस्माच्छन्दोभिधानान्न ब्रह्मणः प्रकृतत्वमिति चेत्, नैष
 दोषः । तथा चेतोर्पणनिगदान्— तथा गायत्र्याख्यच्छ-
 न्दोद्वारेण, तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणं चित्तसमाधानम्
 अनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते— 'गायत्री वा इदं सर्वम्'
 इति । न ह्यक्षरसंनिवेशमात्राया गायत्र्याः सर्वात्मकत्वं
 संभवति । तस्माद्यद्गायत्र्याख्यविकारेऽनुगतं जगत्कारणं ब्रह्म
 निर्दिष्टम्, तदिह सर्वमित्युच्यते, यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'
 इति । कार्यं च कारणादव्यतिरिक्तमिति वक्ष्यामः— 'तदन-
 न्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यत्र । तथान्यत्रापि विकारद्वा-
 रेण ब्रह्मण उपासनं दृश्यते— 'एतं ह्येव ब्रह्मचा महत्यु-
 क्थे मीमांसन्त एतमग्रावध्वर्यव एतं महाव्रते च्छन्दोगाः'
 इति । तस्मादस्ति च्छन्दोभिधानेऽपि पूर्वस्मिन्वाक्ये 'चतु-
 ष्पाद्ब्रह्म निर्दिष्टम् । तदेव ज्योतिर्वाक्येऽपि परामृश्यते

उपासनान्तरविधानाय । अपर आह । साक्षादेव गाय-
त्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते, संख्यासामान्यान् । यथा गाय-
त्री चतुष्पदा षडक्षरैः पादैः, तथा ब्रह्म चतुष्पान् । तथा-
न्यत्रापि च्छन्दोभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे संख्यासामान्या-
त्प्रयुज्यमानो दृश्यते । तद्यथा— ‘ते वा एते पञ्चान्ये
पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्’ इत्युपक्रम्याह ‘सैषा
विराडन्नादी’ इति । अस्मिन्पक्षे ब्रह्मैवाभिहितमिति न
च्छन्दोभिधानम् । सर्वथाप्यस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं
ब्रह्म इति ॥

भूतादिपादान्वयपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

इतश्चैवमभ्युपगन्तव्यमस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्मेति ;
यतो भूतादीन्पादान्वयपदिशति श्रुतिः । भूतपृथिवीशरीरहृद-
यानि हि निर्दिश्याह— ‘सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री’
इति । न हि ब्रह्मानाश्रयणे केवलस्य च्छन्दसो भूतादयः पा-
दा उपपद्यन्ते । अपि च ब्रह्मानाश्रयणे नेयमृक् संबध्येत—
‘तावानस्य महिमा’ इति । अनया हि ऋचा स्वरसेन ब्रह्मै-
वाभिधीयते, ‘पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि’
इति सर्वात्मत्वोपपत्तेः । पुरुषसूक्तेऽपीयमृक् ब्रह्मपरतयैव स-
मान्नायते । स्मृतिश्च ब्रह्मण एवंप्रपत्तां दर्शयति— ‘विष्ट-

भ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् इति । ‘यद्वै तद्ब्रह्म’ इति च निर्देशः । एवं सति मुख्यार्थ उपपद्यते । ‘ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः’ इति च हृदयसुषुषु ब्रह्मपुरुष-श्रुतिर्ब्रह्मसंबन्धितायां विवक्षितायां संभवति । तस्मादस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्रह्म प्रकृतम् । तदेव ब्रह्म ज्योतिर्वाक्ये च्युसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायमानं परामृश्यत इति स्थितम् ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्य- विरोधात् ॥ २७ ॥

यदप्येतदुक्तम्— पूर्वत्र ‘त्रिपादस्यामृतं दिवि’ इति सप्तम्या शौः आधारत्वेनोपदिष्टा; इह पुनः ‘अथ यदतः परो दिवः’ इति पञ्चम्या मर्यादात्वेन; तस्मादुपदेशभेदान्न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्तीति— तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते— नायं दोषः, उभयस्मिन्नप्यविरोधात् । उभयस्मिन्नपि सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते चोपदेशे न प्रत्यभिज्ञानं विरुध्यते । यथा लोके वृक्षाग्रेण संबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते— वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः, श्येन इति च, एवं दिव्येव सद्ब्रह्म दिवः परमित्युपदिश्यते । अपर आह— यथा लोके वृक्षाग्रेणासंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते— वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः

इयेन इति च, एवं दिवः परमपि सद्ब्रह्म दिवीत्युप-
दिश्यते । तस्मादस्ति पूर्वनिर्दिष्टस्य ब्रह्मण इह प्रत्यभि-
ज्ञानम् । अतः परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दमिति सिद्धम् ॥

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८ ॥

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका—
'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम
११. प्रातर्दना- युद्धेन च पौरुषेण च' इत्यारभ्यान्नाता ।
धिकरणम् । तस्यां श्रूयते— 'स होवाच प्राणोऽस्मि
ब्रह्मात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व' इति । तथोत्तरत्रापि—
'अथ खलु प्राण एव ब्रह्मात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति'
इति । तथा 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्'
इति । अन्ते च 'स एष प्राण एव ब्रह्मात्मानन्दोऽजर-
ोऽमृतः' इत्यादि । तत्र संशयः—किमिह प्राणशब्देन वायु-
मात्रमभिधीयते, उत देवतात्मा, उत जीवः, अथवा परं
ब्रह्मेति । ननु 'अत एव प्राणः' इत्यत्र वर्णितं प्राणश-
ब्दस्य ब्रह्मपरत्वम्; इहापि च ब्रह्मलिङ्गमस्ति— 'आन-
न्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि; कथमिह पुनः संशयः संभवति ?
— अनेकलिङ्गदर्शनादिति ब्रूमः । न केवलमिह ब्रह्मलिङ्ग-
मेवोपलभ्यते । सन्ति हीतरलिङ्गान्यपि— 'मामेव विजा-

नीहि' इतीन्द्रस्य वचनं देवतात्मलिङ्गम् । 'इदं शरीरं परि-
गृह्योत्थापयति' इति प्राणलिङ्गम् । 'न वाचं विजिज्ञासीत
वक्तारं विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्गम् । अत उपपन्नः संशयः ।
तत्र प्रसिद्धेर्वायुः प्राण इति प्राप्ते—

इदमुच्यते— प्राणशब्दं ब्रह्म विज्ञेयम् । कुतः? तथानु-
गमान् । तथाहि पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने वाक्ये पदानां
समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपर उपलभ्यते । उपक्रमे तावत्
'वरं वृणीष्व' इतीन्द्रेणोक्तः प्रतर्दनः परमं पुरुषार्थं वरमु-
पचिक्षेप— 'त्वमेव मे वरं वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हित-
तमं मन्यसे' इति । तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः
कथं परमात्मा न स्यात् । न ह्यन्यत्र परमात्मविज्ञानाद्धित-
तमप्राप्तिरस्ति, 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था
विद्यतेऽयनाय' इत्यादिश्रुतिभ्यः । तथा 'स यो मां वेद
न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न
भ्रूणहत्या' इत्यादि च ब्रह्मपरिग्रहे घटते । ब्रह्मविज्ञानेन
हि सर्वकर्मक्षयः प्रसिद्धः— 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन् दृष्टे परावरे' इत्याद्यासु श्रुतिषु । प्रज्ञात्मत्वं च ब्रह्म-
पक्ष एवोपपद्यते । न ह्यचेतनस्य वायोः प्रज्ञात्मत्वं संभवति ।
तथोपसंहारेऽपि 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यानन्दत्वादीनि च

न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्यक् संभवन्ति । ‘स न साधुना कर्मणा भूयान्भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते । एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते’ इति, ‘एष लोकाधिपतिरेष लोकपाल एष लोकेशः’ इति च । सर्वमेतत्परस्मिन्ब्रह्मण्याश्रीयमाणेऽनुगन्तुं शक्यते, न मुख्ये प्राणे । तस्मात्प्राणो ब्रह्म ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेद्ध्यात्मसं-
बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

यदुक्तं प्राणो ब्रह्मेति, तदाक्षिप्यते—न परं ब्रह्म प्राण-
शब्दम्; कस्मात्? वक्तुरात्मोपदेशात् । वक्ता हीन्द्रो नाम
कश्चिद्विग्रहवान्देवताविशेषः स्वमात्मानं प्रतर्दनायाचचक्षे—
‘मामेव विजानीहि’ इत्युपक्रम्य ‘प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा’ इत्य-
हंकारवादेन । स एव वक्तुरात्मत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं
ब्रह्म स्यात्? न हि ब्रह्मणो वक्तृत्वं संभवति, ‘अवागमनाः’
इत्यादिश्रुतिभ्यः । तथा विग्रहसंबन्धिभिरेव ब्रह्मण्यसंभव-
द्विर्धर्मैरिन्द्र आत्मानं तुष्टाव— ‘त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरु-
न्मुखान्यतीञ्जालावृकेभ्यः प्रायच्छम्’ इत्येवमादिभिः । प्राण-

त्वं चेन्द्रस्य बलवत्त्वादुपपद्यते; 'प्राणो वै बलम्' इति हि विज्ञायते । बलस्य चेन्द्रो देवता प्रसिद्धा । या च काचिद्व्यप्रकृतिः, इन्द्रस्य कर्मेव तदिति हि वदन्ति । प्रज्ञात्मत्वमप्यप्रतिहतज्ञानत्वाद्देवतात्मनः संभवति । अप्रतिहतज्ञाना देवता इति हि वदन्ति । निश्चिते चैवं देवतात्मोपदेशे हिततमत्वादिवचनानि यथासंभवं तद्विषयाण्येव योजयितव्यानि । तस्माद्वक्तुरिन्द्रस्यात्मोपदेशात् न प्राणो ब्रह्मेत्याक्षिप्य प्रतिसमाधीयते— 'अध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन्' इति । अध्यात्मसंबन्धः प्रत्यगात्मसंबन्धः, तस्य भूमा बाहुल्यम्, अस्मिन्नध्याये, उपलभ्यते । 'यावद्धयस्मिञ्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः' इति प्राणस्यैव प्रज्ञात्मनः प्रत्यग्भूतस्यायुष्प्रदानोपसंहारयोः स्वातन्त्र्यं दर्शयति, न देवताविशेषस्य पराचीनस्य । तथास्तित्वे च प्राणानां निःश्रेयसमित्यध्यात्ममेवेन्द्रियाश्रयं प्राणं दर्शयति । तथा 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्णोत्थापयति' इति । 'न वाचं विजिज्ञासीत् वक्तारं विद्यात्' इति चोपक्रम्य 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' इति विषयेन्द्रियव्यवहाररत्नाभिभूतं प्रत्यगात्मा-

नमेवोपसंहरति । ‘स म आत्मेति विद्यात्’ इति चोपसंहारः प्रत्यगात्मपरिग्रहे साधुः, न पराचीनपरिग्रहे । ‘अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः’ इति च श्रुत्यन्तरम् । तस्मादध्यात्मसंबन्ध-बाहुल्याद्ब्रह्मोपदेश एवायम्, न देवतात्मोपदेशः ॥

कथं तर्हि वक्तुरात्मोपदेशः ?—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

इन्द्रो नाम देवतात्मा स्वमात्मानं परमात्मत्वेन ‘अहमेव परं ब्रह्म’ इत्यार्षेण दर्शनेन यथाशास्त्रं पश्यन् उपदिशति स्म— ‘मामेव विजानीहि’ इति; यथा— ‘तद्वैतत्पश्यन्नृषिर्वाग्मदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च’ इति, तद्वत्; ‘तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्’ इति श्रुतेः । यत्पुनरुक्तम्— ‘मामेव विजानीहि’ इत्युक्त्वा, विग्रहधर्मेरिन्द्रः स्वमात्मानं तुष्टाव त्वाष्ट्रवधादिभिरिति, तत्परिहर्तव्यम्; अत्रोच्यते— न तावत् त्वाष्ट्रवधादीनां विज्ञेयेन्द्रस्तुत्यर्थत्वेनोपन्यासः— ‘यस्मादेवंकर्माहम्, तस्मान्मां विजानीहि’ इति; कथं तर्हि? विज्ञानस्तुत्यर्थत्वेन; यत्कारणं त्वाष्ट्रवधादीनि साहसान्युपन्यस्य परेण— विज्ञानस्तुतिमनुसंधाति— ‘तस्य मे तत्र लोम च न मीयते स यो मां वेद न ह वै

तस्य केन च कर्मणा लोको मीयते' इत्यादिना । एतदुक्तं भवति— यस्मादीदृशान्यपि क्रूराणि कर्माणि कृतवतो मम ब्रह्मभूतस्य लोमापि न हिंस्यते, स योऽन्योऽपि मां वेद, न तस्य केनचिदपि कर्मणा लोको हिंस्यत इति । विज्ञेयं तु ब्रह्मैव 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति वक्ष्यमाणम् । तस्माद्ब्रह्म-वाक्यमेतत् ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैवि- ध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

यद्यप्यध्यात्मसंबन्धभूमदर्शनात् पराचीनस्य देवतात्मन उपदेशः, तथापि न ब्रह्मवाक्यं भवितुमर्हति । कुतः? जीवलिङ्गान् मुख्यप्राणलिङ्गाच्च । जीवस्य तावदस्मिन्वाक्ये विस्पष्टं लिङ्गमुपलभ्यते— 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि । अत्र हि वागादिभिः करणैर्व्यापृतस्य कार्यकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विज्ञेयत्वमभिधीयते । तथा मुख्यप्राणलिङ्गमपि— 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति । शरीरधारणं च मुख्यप्राणस्य धर्मः; प्राणसंवादे वागादीन्प्राणान्प्रकृत्य— 'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रवि-

भज्यैतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामि' इति श्रवणात् । ये तु 'इमं शरीरं परिगृह्य' इति पठन्ति, तेषाम् इमं जीवमिन्द्रियग्रामं वा परिगृह्य शरीरमुत्थापयतीति व्याख्येयम् । प्रज्ञात्मत्वमपि जीवे तावच्चेतनत्वादुपपन्नम् । मुख्येऽपि प्राणे प्रज्ञासाधनप्राणान्तराश्रयत्वादुपपन्नमेव । एवं जीवमुख्यप्राणपरिग्रहे च, प्राणप्रज्ञात्मनोः सहवृत्तित्वेनाभेदनिर्देशः, स्वरूपेण च भेदनिर्देशः, इत्युभयथापि निर्देश उपपद्यते— 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः' 'सह होतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति । ब्रह्मपरिग्रहे तु किं कस्माद्भिद्येत ? तस्मादिह जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर उभौ वा प्रतीयेयातां न ब्रह्मेति चेत्, नैतदेवम् ; उपासात्रैविध्यात् । एवं सति त्रिविधमुपासनं प्रसज्येत—जीवोपासनं मुख्यप्राणोपासनं ब्रह्मोपासनं चेति । न चैतदेकस्मिन्वाक्येऽभ्युपगन्तुं युक्तम् । उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि वाक्यैकवाक्यत्वमवगम्यते । 'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य, 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व' इत्युक्त्वा, अन्ते 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' इत्येकरूपावुपक्रमोपसंहारौ दृश्येते । तत्रार्थैकत्वं युक्तमाश्रयितुम् । न च ब्रह्मलिङ्गमन्यपरत्वेन परिणेतुं शक्यम् ; दशानां भूतमात्राणां

प्रज्ञासात्राणां च ब्रह्मणोऽन्यत्र अर्पणानुपपत्तेः । आश्रितत्वाच्च
 अन्यत्रापि ब्रह्मलिङ्गवशात्प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि प्रवृत्तेः, इहापि
 च हिततमोपन्यासादिब्रह्मलिङ्गयोगान्, ब्रह्मोपदेश एवाय-
 मिति गम्यते । यत्तु मुख्यप्राणलिङ्गं दर्शितम्— ‘इदं शरीरं
 परिगृह्योत्थापयति’ इति, तदसन्; प्राणव्यापारस्यापि पर-
 मात्मायत्तत्वात्परमात्मन्युपचरितुं शक्यत्वान्— ‘न प्राणेन
 नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति
 यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ’ इति श्रुतेः । यदपि ‘न वाचं विजिज्ञा-
 सीत वक्तारं विद्यात्’ इत्यादि जीवलिङ्गं दर्शितम्, तदपि न
 ब्रह्मपक्षं निवारयति । न हि जीवो नामात्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः,
 ‘तत्त्वमसि,’ ‘अहं ब्रह्मास्मि’ इत्यादिश्रुतिभ्यः । बुद्ध्याद्युपा-
 धिकृतं तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मैव सन् जीवः कर्ता भोक्ता चेत्यु-
 च्यते । तस्योपाधिकृतविशेषपरित्यागेन स्वरूपं ब्रह्म दर्शयितुम्
 ‘न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्’ इत्यादिना प्रत्यगा-
 त्माभिमुखीकरणार्थं उपदेशो न विरुध्यते । ‘यद्वाचानभ्यु-
 दितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदि-
 दमुपासते’ इत्यादि च श्रुत्यन्तरं वचनादिक्रियाव्यापृतस्यै-
 वात्मनो ब्रह्मत्वं दर्शयति । यत्पुनरेतदुक्तम्— ‘सह ह्येता-
 वस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः’ इति प्राणप्रज्ञात्मनो-

भेददर्शनं ब्रह्मवादिनो नोपपद्यत इति, नैष दोषः; ज्ञानक्रिया-
शक्तिद्वयाश्रययोर्बुद्धिप्राणयोः प्रत्यगात्मोपाधिभूतयोर्भेदनिर्दे-
शोपपत्तेः । उपाधिद्वयोपहितस्य तु प्रत्यगात्मनः स्वरूपेणा-
भेद इत्यतः 'प्राण एव प्रज्ञात्मा' इत्येकीकरणमवि-
रुद्धम् ॥

अथवा 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगान्' इत्य-
स्यायमन्योऽर्थः—न ब्रह्मवाक्येऽपि जीवमुख्यप्राणलिङ्गं वि-
रुध्यते; कथम्? उपासात्रैविध्यात् । त्रिविधमिह ब्रह्मण उपा-
सनं विवक्षितम्—प्राणधर्मेण, प्रज्ञाधर्मेण, स्वधर्मेण च । तन्न
'आयुरमृतमित्युपास्वायुः प्राणः' इति 'इदं शरीरं परिगृ-
ह्योत्थापयति' इति 'तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत' इति च प्रा-
णधर्मः । 'अथ यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकीभवन्ति
तद्वाख्यास्यामः' इत्युपक्रम्य 'वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत्तस्यै
नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा प्रज्ञया वाचं समारुह्य
वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' इत्यादिः प्रज्ञाधर्मः । 'ता वा
एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम् ।
यदि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युः । यदि प्रज्ञामात्रा न
स्युर्न भूतमात्राः स्युः । न ह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सिध्येत् ।
नो एतन्नाना । तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अ-

र्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः
 प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा' इत्यादिर्ब्रह्मधर्मः ।
 तस्माद्ब्रह्मण एवैतदुपाधिद्वयधर्मेण स्वधर्मेण चैकमुपासनं त्रि-
 विधं विवक्षितम् । अन्यत्रापि 'मनोमयः प्राणशरीरः' इ-
 त्यादावुपाधिधर्मेण ब्रह्मण उपासनमाश्रितम्; इहापि तदु-
 ज्यते वाक्यस्योपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थत्वावगमात् प्राण-
 प्रज्ञात्मब्रह्मलिङ्गावगमाच्च । तस्माद्ब्रह्मवाक्यमेवैतदिति सि-
 द्धम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगव-
 त्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

शारीरकमीमांसासूत्रभाष्ये

प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥



श्रीमच्छंकरभगवत्पादैर्विरचितम्

॥ ब्रह्मसूत्रभाष्यम् ॥

प्रथमाध्याये

द्वितीयः पादः

द्वितीयः पादः ॥



प्रथमे पादे 'जन्माद्यस्य यतः'

इत्याकाशादेः समस्तस्य जगतो जन्मा-
दिकारणं ब्रह्मेत्युक्तम् । तस्य समस्त-
जगत्कारणस्य ब्रह्मणो व्यापित्वं नित्यत्वं
सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं सर्वात्मकत्वमित्येवं-
जातीयका धर्मा उक्ता एव भवन्ति । अर्थान्तरप्रसिद्धानां च
केषांचिच्छब्दानां ब्रह्मविषयत्वहेतुप्रतिपादनेन कानिचिद्वा-
क्यानि स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि संदिह्यमानानि ब्रह्मपरतया निर्णी-
तानि । पुनरप्यन्यानि वाक्यान्यस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि संदि-
ह्यन्ते— किं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति, आहोस्विदर्थान्तरं
किंचिदिति । तन्निर्णयाय द्वितीयतृतीयौ पादावारभ्येते—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

इदमाम्नायते— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त
उपासीत । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके

पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स ऋतुं कुर्वीत' १. सर्वत्रप्रसिद्ध्याधि- 'मनोमयः प्राणशरीरः' इत्यादि । तत्र संशयः— किमिह मनोमयत्वादिभिर्धर्मैः कारणम् । शारीर आत्मोपास्यत्वेनोपदिश्यते, आहोस्वित्परं ब्रह्मेति । किं तावत्प्राप्तम्? शारीर इति । कुतः? तस्य हि कार्यकरणाधिपतेः प्रसिद्धो मनआदिभिः संबन्धः, न परस्य ब्रह्मणः; 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादिश्रुतिभ्यः । ननु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति स्वशब्देनैव ब्रह्मोपात्तम्; कथमिह शारीर आत्मोपास्यत्वेनाशङ्क्यते? नैष दोषः; नेदं वाक्यं ब्रह्मोपासनविधिपरम्; किं तर्हि? शमविधिपरम्; यत्कारणम् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्याह । एतदुक्तं भवति— यस्मात्सर्वमिदं विकारजातं ब्रह्मैव, तज्जत्वान् तल्लत्वान् तदन्तत्वाच्च— न च सर्वस्यैकात्मत्वे रागादयः संभवन्ति— तस्मान् शान्त उपासीतेति । न च शमविधिपरत्वे सत्यनेन वाक्येन ब्रह्मोपासनं नियन्तुं शक्यते । उपासनं तु 'स ऋतुं कुर्वीत' इत्यनेन विधीयते । ऋतुः संकल्पो ध्यानमित्यर्थः । तस्य च विषयत्वेन श्रूयते— 'मनोमयः प्राणशरीरः' इति जीवलिङ्गम् । अतो ब्रूमः— जीवविषयमेतदुपासनमिति । 'स-

र्वकर्मा सर्वकामः' इत्याद्यपि श्रूयमाणं पर्यायेण जीवविष-
यमुपपद्यते । 'एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्त्रीहेर्वा यवाद्वा'
इति च हृदयायतनत्वमणीयस्त्वं चाराग्रमात्रस्य जीवस्या-
वकल्पते, नापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः । ननु 'ज्यायान्पृथिव्याः'
इत्याद्यपि न परिच्छिन्नेऽवकल्पत इति । अत्र ब्रूमः— न
तावदणीयस्त्वं ज्यायस्त्वं चोभयमेकस्मिन्समाश्रयितुं शक्यम्,
विरोधात्; अन्यतराश्रयणे च, प्रथमश्रुतत्वादणीयस्त्वं युक्त-
माश्रयितुम्; ज्यायस्त्वं तु ब्रह्मभावापेक्षया भविष्यतीति ।
निश्चिते च जीवविषयत्वे यदन्ते ब्रह्मसंकीर्तनम्— 'एत-
द्ब्रह्म' इति, तदपि प्रकृतपरामर्शार्थत्वाज्जीवविषयमेव । त-
स्मान्मनोमयत्वादिभिर्धर्मैर्जीव उपास्य इत्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः—परमेव ब्रह्मेह मनोमयत्वादिभिर्धर्मैरुपास्यम् । कु-
तः? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । यत्सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धं
ब्रह्मशब्दस्यालम्बनं जगत्कारणम्, इह च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'
इति वाक्योपक्रमे श्रुतम्, तदेव मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टमुप-
दिश्यत इति युक्तम् । एवं च सति प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये न
भविष्यतः । ननु वाक्योपक्रमे शमविधिविवक्षया ब्रह्म नि-
र्दिष्टं न स्वविवक्षयेत्युक्तम्; अत्रोच्यते— यद्यपि शमविधि-
विवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टम्, तथापि मनोमयत्वादिषूपदिश्यमा-

नेषु तदेव ब्रह्म संनिहितं भवति, जीवस्तु न संनिहितः, न च स्वशब्देनोपात्त इति वैषम्यम् ॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

वक्तुमिष्टा विवक्षिताः । यद्यप्यपौरुषेये वेदे वक्तुरभावात् नेच्छार्थः संभवति, तथाप्युपादानेन फलेनोपचर्यते । लोकेऽपि यच्छब्दाभिहितमुपादेयं भवति तद्विवक्षितमित्युच्यते, यदनुपादेयं तद्विवक्षितमिति । तद्वद्वेदेऽप्युपादेयत्वेनाभिहितं विवक्षितं भवति, इतरद्विवक्षितम् । उपादानानुपादाने तु वेदवाक्यतात्पर्यातात्पर्याभ्यामवगम्येते । तदिह ये विवक्षिता गुणा उपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टाः सत्यसंकल्पप्रभृतयः, ते परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । सत्यसंकल्पत्वं हि सृष्टिस्थितिसंहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात्परमात्मन एवावकल्पते । परमात्मगुणत्वेन च ‘य आत्मापहतपाप्मा’ इत्यत्र ‘सत्यकामः सत्यसंकल्पः’ इति श्रुतम्, ‘आकाशात्मा’ इति च । आकाशवदात्मा अस्येत्यर्थः । सर्वगतत्वादिभिर्धर्मैः संभवत्याकाशेन साम्यं ब्रह्मणः । ‘ज्यायान्पृथिव्याः’ इत्यादिना चैतदेव दर्शयति । यदपि आकाश आत्मा अस्येति व्याख्यायते, तदपि संभवति सर्वजगत्कारणस्य सर्वात्मनो ब्रह्मण आकाशात्मत्वम् । अत एव ‘सर्वकर्मा’ इत्यादि । एव-

मिहोपास्यतया विवक्षिता गुणा ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । यत्तूक्तम्—
 ‘मनोमयः प्राणशरीरः’ इति जीवलिङ्गम्, न तद्ब्रह्मण्युपपद्यत
 इति; तदपि ब्रह्मण्युपपद्यत इति ब्रूमः । सर्वात्मत्वाद्धि ब्रह्मणो
 जीवसंबन्धीनि मनोमयत्वाद्दीनि ब्रह्मसंबन्धीनि भवन्ति ।
 तथा च ब्रह्मविषये श्रुतिस्मृती भवतः— ‘त्वं स्त्री त्वं
 पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो
 दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः’
 इति; ‘सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः-
 श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति’ इति च । ‘अप्राणो ह्यमनाः
 शुभ्रः’ इति श्रुतिः शुद्धब्रह्मविषया, इयं तु श्रुतिः ‘मनोमयः
 प्राणशरीरः’ इति सगुणब्रह्मविषयेति विशेषः । अतो विव-
 क्षितगुणोपपत्तेः परमेव ब्रह्म इहोपास्यत्वेनोपदिष्टमिति
 गम्यते ॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता ।
 अनेन शरीरे तेषामनुपपत्तिरुच्यते । तु-शब्दोऽवधारणार्थः ।
 ब्रह्मैवोक्तेन न्यायेन मनोमयत्वादिगुणम्; न तु शारीरो
 जीवो मनोमयत्वादिगुणः; यत्कारणम्— ‘सत्यसंकल्पः’
 ‘आकाशात्मा’ ‘अवाकी’ ‘अनादरः’ ‘ज्यायान्पृथिव्याः’

इति चैवंजातीयका गुणा न शारीरे आञ्जस्येनोपपद्यन्ते । शारीर इति शरीरे भव इत्यर्थः । नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति ; सत्यम्, शरीरे भवति ; न तु शरीर एव भवति ; ‘ज्यायान्प्रथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्’ ‘आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः’ इति च व्यापित्वश्रवणात् । जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात् ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

इतश्च न शारीरो मनोमयत्वादिगुणः ; यस्मात्कर्मकर्तृ-व्यपदेशो भवति—‘एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि’ इति । एतमिति प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणमुपास्यमात्मानं कर्मत्वेन प्राप्यत्वेन व्यपदिशति ; अभिसंभवितास्मीति शारीरमुपासकं कर्तृत्वेन प्रापकत्वेन । अभिसंभवितास्मीति प्राप्तास्मीत्यर्थः । न च सत्यां गतावेकस्य कर्मकर्तृव्यपदेशो युक्तः । तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव । तस्मादपि न शारीरो मनोमयत्वादिविशिष्टः ॥

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

इतश्च शारीरादन्यो मनोमयत्वादिगुणः ; यस्माच्छब्दविशेषो भवति समानप्रकरणे श्रुत्यन्तरे— ‘यथा व्रीहिर्वा

यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तराल-
न्युरुषो हिरण्मयः' इति । शारीरस्यात्मनो यः शब्दोऽभि-
धायकः सप्तम्यन्तः— अन्तरात्मन्निति ; तस्माद्विशिष्टोऽन्यः
प्रथमान्तः पुरुषशब्दो मनोमयत्वादिविशिष्टस्यात्मनोऽभिधा-
यकः । तस्मात्तयोर्भेदोऽधिगम्यते ॥

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

स्मृतिश्च शारीरपरमात्मनोर्भेदं दर्शयति— 'ईश्वरः सर्व-
भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्वा-
रूढानि मायया' इत्याद्या । अत्राह— कः पुनरयं शारीरो
नाम परमात्मनोऽन्यः, यः प्रतिषिध्यते—' अनुपपत्तेस्तु न
शारीरः' इत्यादिना ? श्रुतिस्तु 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा
नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इत्येवंजातीयका परमात्मनोऽन्य-
मात्मानं वारयति । तथा स्मृतिरपि 'क्षेत्रज्ञं चापि मां
विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' इत्येवंजातीयकेति ॥

अत्रोच्यते— सत्यमेवैतत्— पर एवात्मा देहेन्द्रिय-
मनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपच-
र्यते ; यथा घटकरकाद्युपाधिवशाद्परिच्छिन्नमपि नभः परि-
च्छिन्नवदवभासते, तद्वत् । तदपेक्षया च कर्मकर्तृत्वादि-
भेदव्यवहारो न विरुध्यते प्राक् 'तत्त्वमसि' इत्यात्मैकत्वो-

परिमहण सं 10363.....
ग्रन्थालय, क. उ. नि. शि संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

पदेशग्रहणात् । गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहार-
परिसमाप्तिरेव स्यात् ॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न
निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

अर्भकमल्पम् ओको नीडम्, 'एष म आत्मान्तर्हृदये'
इति परिच्छिन्नायतनत्वात्, स्वशब्देन च 'अणीयान्त्रीहेर्वा
यवाद्वा' इत्यणीयस्त्वव्यपदेशात्, शारीर एवाराग्रमात्रो
जीव इहोपदिश्यते, न सर्वगतः परमात्मा— इति यदुक्तं
तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते— नायं दोषः । न तावत्परि-
च्छिन्नदेशस्य सर्वगतत्वव्यपदेशः कथमप्युपपद्यते । सर्वगतस्य
तु सर्वदेशेषु विद्यमानत्वात्परिच्छिन्नदेशव्यपदेशोऽपि कया-
चिदपेक्षया संभवति । यथा समस्तवसुधाधिपतिरपि हि
सन् अयोध्याधिपतिरिति व्यपदिश्यते । कया पुनरपेक्षया
सर्वगतः सन्नीश्वरोऽर्भकौका अणीयांश्च व्यपदिश्यत इति ।
निचाय्यत्वादेवमिति ब्रूमः । एवम् अणीयस्त्वादिगुणगणोपेत
ईश्वरः, तत्र हृदयपुण्डरीके, निचाय्यो द्रष्टव्य उपदिश्यते ;
यथा सालग्रामे हरिः । तत्रास्य बुद्धिविज्ञानं प्राहकम् ;
सर्वगतोऽपीश्वरस्तत्रोपास्यमानः प्रसीदति । व्योमवच्चैतद्द्र-
ष्टव्यम् । यथा सर्वगतमपि सद्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयार्भकौ-

कोऽणीयश्चेति व्यपदिश्यते, एवं ब्रह्मापि । तदेवं निचाय्य-
त्वापेक्षं ब्रह्मणोऽर्भकौकस्त्वमणीयस्त्वं च, न पारमार्थिकम् ।
तत्र यदाशङ्क्यते— हृदयायतनत्वाद्ब्रह्मणो हृदयानां च
प्रतिशरीरं भिन्नत्वाद्भिन्नायतनानां च शुकादीनामनेकत्वसा-
वयवत्वानित्यत्वादिदोषदर्शनाद्ब्रह्मणोऽपि तद्वत्प्रसङ्ग इति, त-
दपि परिहृतं भवति ॥

संभोगप्राप्तिरिति चैन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

व्योमवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणः सर्वप्राणिहृदयसंबन्धात्, चि-
द्रूपतया च शारीरादविशिष्टत्वात्, सुखदुःखादिसंभोगोऽप्य-
विशिष्टः प्रसज्येत; एकत्वाच्च—न हि परस्मादात्मनोऽन्यः
कश्चिदात्मा संसारी विद्यते, ‘नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता’
इत्यादिश्रुतिभ्यः । तस्मात्परस्यैव ब्रह्मणः संभोगप्राप्तिरिति चे-
त्, न; वैशेष्यात् । न तावत्सर्वप्राणिहृदयसंबन्धात् चिद्रूप-
तया च शारीरवद्ब्रह्मणः संभोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात् । विशेषो हि
भवति शारीरपरमेश्वरयोः । एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मादि-
साधनः सुखदुःखादिमांश्च । एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वा-
दिगुणः । एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगः, नेतरस्य । यदि
च संनिधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य कार्यसंबन्धोऽभ्युपग-
म्येत, आकाशादीनामपि दाहादिप्रसङ्गः । सर्वगतानेकात्मवा-

दिनामपि समावेतौ चोद्यपरिहारौ । यदप्येकत्वाद्व्रह्मण आत्मान्तराभावाच्छारीरस्य भोगेन ब्रह्मणो भोगप्रसङ्ग इति, अत्र वदामः—इदं तावद्देवानांप्रियः प्रष्टव्यः—कथमयं त्वया-त्मान्तराभावोऽध्यवासित इति । ‘तत्त्वमसि’ ‘अहं ब्रह्मास्मि’ ‘नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता’ इत्यादिशास्त्रेभ्य इति चेत्, यथाशास्त्रं तर्हि शास्त्रीयोऽर्थः प्रतिपत्तव्यः, न तत्रार्थजरतीयं लभ्यम् । शास्त्रं च ‘तत्त्वमसि’ इत्यपहतपाप्मत्वादिविशेषणं ब्रह्म शारीरस्यात्मत्वेनोपदिशच्छारीरस्यैव तावदुपभोक्तृत्वं वारयति । कुतस्तदुपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः । अथागृहीतं शारीरस्य ब्रह्मणैकत्वम्, तदा मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्योपभोगः; न तेन परमार्थरूपस्य ब्रह्मणः संस्पर्शः । न हि बालैस्तलमलिनतादिभिव्योम्नि विकल्प्यमाने तलमलिनतादिविशिष्टमेव परमार्थतो व्योम भवति । तदाह—न, वैशेष्यादिति । नैकत्वेऽपि शारीरस्योपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात् । विशेषो हि भवति मिथ्याज्ञानसम्यग्ज्ञानयोः । मिथ्याज्ञानकल्पित उपभोगः, सम्यग्ज्ञानदृष्टमेकत्वम् । न च मिथ्याज्ञानकल्पितेनोपभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्टं वस्तु संस्पृश्यते । तस्मान्नोपभोगगन्धोऽपि शक्य ईश्वरस्य कल्पयितुम् ॥

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

कठवल्लीषु पठ्यते 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत
ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्न सः' इति ।

२. अत्रधि- अत्र कश्चिदोदनोपसेचनसूचितोऽत्ता प्रती-
करणम् । यते । तत्र किमग्निरत्ता स्यात्, उत जी-
वः, अथवा परमात्मा, इति संशयः; विशेषानवधार-
णात्, त्रयाणां चाग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे प्रशोपन्या-
सोपलब्धेः । किं तावत्प्राप्तम्? अग्निरत्तेति । कुतः? 'अग्नि-
रन्नादः' इति श्रुतिप्रसिद्धिभ्याम् । जीवो वा अत्ता स्यात्
'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति दर्शनात्; न परमात्मा,
'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति दर्शनादित्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः—अत्तात्र परमात्मा भवितुमर्हति । कुतः? चराचर-
ग्रहणात् । चराचरं हि स्थावरजङ्गमं मृत्यूपसेचनमिहाद्यत्वेन
प्रतीयते; तादृशस्य चाद्यस्य न परमात्मनोऽन्यः कात्स्न्ये-
नात्ता संभवति । परमात्मा तु विकारजातमुपसंहरन्सर्व-
मर्त्तात्युपपद्यते । नन्विह चराचरग्रहणं नोपलभ्यते; कथं
सिद्धवच्चराचरग्रहणं हेतुत्वेनोपादीयते? नैष दोषः, मृत्यूपसे-
चनत्वेनेहाद्यत्वेन सर्वस्य प्राणिनिकायस्य प्रतीयमानत्वात्,
ब्रह्मक्षत्रयोश्च प्राधान्यात्प्रदर्शनार्थत्वोपपत्तेः । यत्तु परमात्म-
नोऽपि नात्तृत्वं संभवति 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति

दर्शनादिति, अत्रोच्यते— कर्मफलभोगस्य प्रतिषेधकमेत-
दर्शनम्, तस्य संनिहितत्वात् । न विकारसंहारस्य प्रतिषे-
धकम्, सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः
प्रसिद्धत्वात् । तस्मात्परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हति ॥

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

इतश्च परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हति; यत्कारणं प्रकर-
णमिदं परमात्मनः—‘न जायते म्रियते वा विपश्चित्’
इत्यादि । प्रकृतग्रहणं च न्याय्यम् । ‘क इत्था वेद यत्र
सः’ इति च दुर्विज्ञानत्वं परमात्मलिङ्गम् ॥

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

कठवल्लीष्वेव पठ्यते—‘ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति

३. गुहाप्रविष्टा- पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः’ इति ।

धिकरणम् । तत्र संशयः—किमिह बुद्धिजीवौ निर्दि-
ष्टौ, उत जीवपरमात्मानाविति । यदि बुद्धिजीवौ, ततो
बुद्धिप्रधानात्कार्यकरणसंघाताद्विलक्षणो जीवः प्रतिपादितो
भवति । तदपीह प्रतिपादयितव्यम्, ‘येयं प्रेते विचिकि-
सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशि-

ष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः' इति पृष्टत्वात् । अथ जीवपरमात्मानौ, ततो जीवाद्विलक्षणः परमात्मा प्रतिपादितो भवति । तदपीह प्रतिपादयितव्यम्—'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यन्तत्पश्यसि तद्वद' इति पृष्टत्वात् । अत्राहाक्षेप्ता—उभावाप्येतौ पक्षौ न संभवतः । कस्मात् ? ऋतपानं हि कर्मफलोपभोगः, 'सुकृतस्य लोके' इति लिङ्गात् । तच्च चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य संभवति, नाचेतनाया बुद्धेः । 'पिबन्तौ' इति द्विवचनेन द्वयोः पानं दर्शयति श्रुतिः । अतो बुद्धिक्षेत्रज्ञपक्षस्तावन्न संभवति । अत एव क्षेत्रज्ञपरमात्मपक्षोऽपि न संभवति ; चेतनेऽपि परमात्मनि ऋतपानासंभवात्, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति मन्त्रवर्णादिति । अत्रोच्यते—नैष दोषः ; छत्रिणो गच्छन्तीत्येकेनापि छत्रिणा बहूनामच्छत्रिणां छत्रित्वोपचारदर्शनात् । एवमेकेनापि पिबता द्वौ पिबन्तावुच्येयाताम् । यद्वा जीवस्तावत्पिबति ; ईश्वरस्तु पाययति ; पाययन्नपि पिबतीत्युच्यते, पाचयितर्यपि पक्तृवप्रसिद्धिदर्शनात् । बुद्धिक्षेत्रज्ञपरिग्रहोऽपि संभवति ; करणे कर्तृत्वोपचारात्, 'एधांसि पचन्ति' इति प्रयोगदर्शनात् । न चाध्यात्माधिकारेऽन्यौ कौचिद्वावृतं पिबन्तौ संभवतः । तस्माद्बुद्धिजीवौ स्यातां जीवपरमात्मानौ वेति संशयः ॥

किं तावत्प्राप्तम्? बुद्धिक्षेत्रज्ञाविति । कुतः? ‘गुहां प्रविष्टौ’ इति विशेषणात् । यदि शरीरं गुहा, यदि वा हृदयम्, उभयथापि बुद्धिक्षेत्रज्ञौ गुहां प्रविष्टावुपपद्येते । न च सति संभवे सर्वगतस्य ब्रह्मणो विशिष्टदेशत्वं युक्तं कल्पयितुम् । ‘सुकृतस्य लोके’ इति च कर्मगोचरानतिक्रमं दर्शयति । परमात्मा तु न सुकृतस्य वा दुष्कृतस्य वा गोचरे वर्तते, ‘न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्’ इति श्रुतेः । ‘छायातपौ’ इति च चेतनाचेतनयोर्निर्देश उपपद्यते, छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात् । तस्माद्बुद्धिक्षेत्रज्ञाविहोच्येयातामित्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः— विज्ञानात्मपरमात्मानाविहोच्येयाताम् । कस्मात्? आत्मानौ हि तावुभावपि चेतनौ समानस्वभावौ । संख्याश्रवणे च समानस्वभावेष्वेव लोके प्रतीतिर्दृश्यते । ‘अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्यः’ इत्युक्ते, गौरैव द्वितीयोऽन्विष्यते, नाश्वः पुरुषो वा । तदिह ऋतपानेन लिङ्गेन निश्चिते विज्ञानात्मनि द्वितीयान्वेषणायां समानस्वभावश्चेतनः परमात्मैव प्रतीयते । ननूक्तं गुहाहितत्वदर्शनान्न परमात्मा प्रत्येतव्य इति; गुहाहितत्वदर्शनादेव परमात्मा प्रत्येतव्य इति वदामः । गुहाहितत्वं तु श्रुतिस्मृतिष्वसकृत्परमात्मन एव

दृश्यते— ‘गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्’ ‘यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्’ ‘आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्’ इत्याद्यासु । सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थो देशविशेषोपदेशो न विरुध्यत इत्येतदप्युक्तमेव । सुकृतलोकवर्तित्वं तु च्छत्रित्ववदेकस्मिन्नपि वर्तमानमुभयोरविरुद्धम् । ‘छायातपौ’ इत्यप्यविरुद्धम् ; छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात्संसारित्वासंसारित्वयोः, अविद्याकृतत्वात्संसारित्वस्य पारमार्थिकत्वाच्चासंसारित्वस्य । तस्माद्विज्ञानात्मपरमात्मानौ गुहां प्रविष्टौ गृह्येते ॥

कुतश्च विज्ञानात्मपरमात्मानौ गृह्येते ?—

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव भवति । ‘आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु’ इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपककल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति । ‘सोऽध्वनः पारमाप्रोति तद्विष्णोः परमं पदम्’ इति परमात्मानं गन्तव्यं कल्पयति । तथा ‘तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति’ इति पूर्वस्मिन्नपि ग्रन्थे मन्त्रमन्तव्यत्वेनैतावेव विशेषितौ । प्रक-

रणं चेदं परमात्मनः । ‘ब्रह्मविदो वदन्ति’ इति च वक्तृ-
 विशेषोपादानं परमात्मपरिग्रहे घटते । तस्मादिह जीवपर-
 मात्मानावुच्येयाताम् । एष एव न्यायः ‘द्वा सुपर्णा
 सयुजा सखाया’ इत्येवमादिष्वपि । तत्रापि ह्यध्यात्माधि-
 कारान्न प्राकृतौ सुपर्णावुच्येते । ‘तयोरन्यः पिप्पलं स्वा-
 द्वत्ति’ इत्यदनलिङ्गाद्विज्ञानात्मा भवति । ‘अनन्नन्योऽभि-
 चाकशीति’ इत्यनशनचेतनत्वाभ्यां परमात्मा । अनन्तरे च
 मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि— ‘समाने वृक्षे
 पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्य-
 त्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः’ इति ॥

अपर आह—‘द्वा सुपर्णा’ इति नेयमृगस्याधिकरणस्य
 सिद्धान्तं भजते, पैङ्गिरहस्यब्राह्मणेनान्यथा व्याख्यातत्वात्—
 ‘तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वमनन्नन्योऽभिचाक-
 शीतीत्यनन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ’ इति ।
 सत्त्वशब्दो जीवः क्षेत्रज्ञशब्दः परमात्मोति यदुच्यते,
 तन्न ; सत्त्वक्षेत्रज्ञशब्दयोरन्तःकरणशारीरपरतया प्रसिद्ध-
 त्वात् । तत्रैव च व्याख्यातत्वात्— ‘तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं
 पश्यति, अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ स-
 त्त्वक्षेत्रज्ञौ’ इति । नाप्यस्याधिकरणस्य पूर्वपक्षभावं भजते ।

न ह्यत्र शारीरः क्षेत्रज्ञः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिना संसारधर्मणोपेतो विवक्ष्यते । कथं तर्हि ? सर्वसंसारधर्मातीतो ब्रह्मस्वभावश्चैतन्यमात्रस्वरूपः ; ‘अनभ्रन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यनभ्रन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः’ इति वचनात्, ‘तत्त्वमसि’ ‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि’ इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च । तावता च विद्योपसंहारदर्शनमेवमेवावकल्पते, ‘तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ न ह वा एवंविदि किंचन रज आध्वंसते’ इत्यादि । कथं पुनरस्मिन्पक्षे ‘तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्’ इत्यचेतने सत्त्वे भोक्तृत्ववचनमिति, उच्यते—नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्त्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता ; किं तर्हि ? चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मस्वभावतां च वक्ष्यामीति । तदर्थं सुखदुःखादिविक्रियावति सत्त्वे भोक्तृत्वमध्यारोपयति । इदं हि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावविवेककृतं कल्प्यते । परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि संभवति, अचेतनत्वात्सत्त्वस्य, अविक्रियत्वाच्च क्षेत्रज्ञस्य । अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य सुतरां न संभवति । तथा च श्रुतिः—‘यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्’ इत्यादिना स्वप्नदृष्ट्यादिव्यवहारवदविद्याविषय एव कर्तृत्वादिव्यवहारं दर्शयति । ‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं

पश्येत्' इत्यादिना च विवेकिनः कर्तृत्वादिव्यवहारं निवारयति ॥

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

‘य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैत-
दमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति

४. अन्तरा- वर्त्मनी एव गच्छति’ इत्यादि श्रूयते ।

धिकरणम् । तत्र संशयः— किमयं प्रतिबिम्बात्माक्ष्य-
धिकरणो निर्दिश्यते, अथ विज्ञानात्मा, उत देवतात्मेन्द्रिय-
स्याधिष्ठाता, अथवेश्वर इति । किं तावत्प्राप्तम्? छायात्मा
पुरुषप्रतिरूप इति । कुतः? तस्य दृश्यमानत्वप्रसिद्धेः, ‘य
एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते’ इति च प्रसिद्धवदुपदेशात् ।
विज्ञानात्मनो वायं निर्देश इति युक्तम् । स हि चक्षुषा रूपं
पश्यंश्चक्षुषि संनिहितो भवति । आत्मशब्दश्चास्मिन्पक्षेऽनु-
कूलो भवति । आदित्यपुरुषो वा चक्षुषोऽनुग्राहकः प्रतीय-
ते— रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः’ इति श्रुतेः, अमृतत्वा-
दीनां च देवतात्मन्यपि कथंचित्संभवात् । नेश्वरः, स्थानवि-
शेषनिर्देशात्—इत्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः—परमेश्वर एवाक्षिण्यभ्यन्तरः पुरुष इहोपदिष्ट
इति । कस्मात्? उपपत्तेः । उपपद्यते हि परमेश्वरे गुणजा-

तमिहोपदिश्यमानम् । आत्मत्वं तावन्मुख्यया वृत्त्या परमेश्वरे उपपद्यते, 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति श्रुतेः । अमृतत्वाभयत्वे च तस्मिन्नसकृच्छ्रूयेते । तथा परमेश्वरानुरूपमेतदक्षिस्थानम् । यथा हि परमेश्वरः सर्वदोषैरलिप्तः, अपहृतपाप्मत्वादिश्रवणात्; तथाक्षिस्थानं सर्वलेपरहितमुपदिष्टम् 'तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिवोदकं वा सिञ्चति, वर्तनी एव गच्छति' इति श्रुतेः । संयद्द्वामत्वादिगुणोपदेशश्च तस्मिन्नवकल्पते । 'एतं संयद्द्वाम इत्याचक्षते । एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति', 'एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति । एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' इति च । अत उपपत्तेरन्तरः परमेश्वरः ॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

कथं पुनरांकाशवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽक्ष्यल्पं स्थानमुपपद्यत इति, अत्रोच्यते— भवेदेषानवकल्पिः, यद्येतदेवैकं स्थानमस्य निर्दिष्टं भवेत् । सन्ति ह्यन्यान्यपि पृथिव्यादीनि स्थानान्यस्य निर्दिष्टानि— 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादिना । तेषु हि चक्षुरपि निर्दिष्टम् 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इति । स्थानादिव्यपदेशादित्यादिग्रहणेनैतद्दर्शयति—न केवलं स्थानमेवैकमनुचितं ब्रह्मणो निर्दिश्यते; किं तर्हि, नाम रूप-

मित्येवंजातीयकमप्यनामरूपस्य ब्रह्मणोऽनुचितं निर्दिश्य-
मानं दृश्यते— ‘तस्योदिति नाम’ ‘हिरण्यश्मश्रुः’
इत्यादि । निर्गुणमपि सद्ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपा-
सनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यत इत्येतदप्युक्तमेव । सर्वगतस्यापि
ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते, सालग्राम
इव विष्णोरित्येतदप्युक्तमेव ॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यम्— किं ब्रह्मास्मिन्वाक्ये-
ऽभिधीयते, न वेति । सुखविशिष्टाभिधानादेव ब्रह्मत्वं
सिद्धम् । सुखविशिष्टं हि ब्रह्म यद्वाक्योपक्रमे प्रक्रान्तम्
‘प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म’ इति, तदेवेहाभिहितम्; प्रकृ-
तपरिग्रहस्य न्याय्यत्वात्, ‘आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता’
इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानात् । कथं पुनर्वाक्योप-
क्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्म विज्ञायत इति, उच्यते— ‘प्राणो
ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म’ इत्येतदग्नीनां वचनं श्रुत्वोपकोसल
उवाच— ‘विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म, कं च खं च तु
न विजानामि’ इति । तत्रेदं प्रतिवचनम्—‘यद्वाव कं
तदेव खं यदेव खं तदेव कम्’ इति । तत्र खंशब्दो भूता-
काशे निरूढो लोके । यदि तस्य विशेषणत्वेन कंशब्दः

सुखवाची नोपादीयेत्, तथा सति केवले भूताकाशे ब्रह्म-
शब्दो नामादिष्विव प्रतीकाभिप्रायेण प्रयुक्त इति प्रतीतिः
स्यात् । तथा कंशब्दस्य विषयेन्द्रियसंपर्कजनिते सामये
सुखे प्रसिद्धत्वात्, यदि तस्य खंशब्दो विशेषणत्वेन नोपा-
दीयेत्; लौकिकं सुखं ब्रह्मेति प्रतीतिः स्यात् । इतरेतरवि-
शेषितौ तु कंखंशब्दौ सुखात्मकं ब्रह्म गमयतः । तत्र
द्वितीये ब्रह्मशब्देऽनुपादीयमाने ‘कं खं ब्रह्म’ इत्येवोच्य-
माने कंशब्दस्य विशेषणत्वेनैवोपयुक्तत्वात्सुखस्य गुणस्या-
ध्येयत्वं स्यात्; तन्मा भूत्— इत्युभयोः कंखंशब्दयोर्ब्र-
ह्मशब्दशिरस्त्वम्— ‘कं ब्रह्म खं ब्रह्म’ इति । इष्टं हि
सुखस्यापि गुणस्य गुणिवच्छेयत्वम् । तदेवं वाक्योपक्रमे
सुखविशिष्टं ब्रह्मोपदिष्टम् । प्रत्येकं च गार्हपत्यादयोऽग्नयः
स्वं स्वं महिमानमुपदिश्य ‘एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या
च’ इत्युपसंहरन्तः पूर्वत्र ब्रह्म निर्दिष्टमिति ज्ञापयन्ति ।
‘आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता’ इति च गतिमात्राभिधानप्र-
तिज्ञानमर्थान्तरविवक्षां वारयति । ‘यथा पुष्करपलाश
आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते’
इति चाक्षिस्थानं पुरुषं विजानतः पाप्मनानुपघातं ब्रुवन्न-
क्षिस्थानस्य पुरुषस्य ब्रह्मत्वं दर्शयति । तस्मात्प्रकृतस्यैव

ब्रह्मणोऽक्षिस्थानतां संयद्ब्रामत्वादिगुणतां चोक्त्वा अर्चिरा-
दिकां तद्विदो गतिं वक्ष्यामीत्युपक्रमते— ‘य एषोऽक्षिणि
पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच’ इति ॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

इतश्चाक्षिस्थानः पुरुषः परमेश्वरः, यस्माच्छ्रुतोपनिष-
त्कस्य श्रुतरहस्यविज्ञानस्य ब्रह्मविदो या गतिर्देवयानाख्या
प्रसिद्धा श्रुतौ— ‘अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया
विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते । एतद्वै प्राणानामा-
यतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते’ इति,
स्मृतावपि— ‘अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तराय-
णम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः’ इति,
सैवेहाक्षिपुरुषविदोऽभिधीयमाना दृश्यते । ‘अथ यदु-
चैवास्मिञ्शब्दं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्ति’
इत्युपक्रम्य ‘आदित्याञ्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो-
ऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन
प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते’ इति । तदिह
ब्रह्मविद्विषयया प्रसिद्धया गत्या अक्षिस्थानस्य ब्रह्मत्वं
निश्चीयते ॥

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

यत्पुनरुक्तं छायात्मा, विज्ञानात्मा, देवतात्मा वा स्याद-
 क्षिस्थान इति, अत्रोच्यते—न च्छायात्मादिरितर इह ग्रह-
 णमर्हति । कस्मात् ? अनवस्थितेः । न तावच्छायात्मनश्च-
 क्षुषि नित्यमवस्थानं संभवति । यदैव हि कश्चित्पुरुषश्चक्षुरा-
 सीदति, तदा चक्षुषि पुरुषच्छाया दृश्यते ; अपगते तस्मिन्न
 दृश्यते । ‘य एषोऽक्षिणि पुरुषः’ इति च श्रुतिः संनिधाना-
 त्स्वचक्षुषि दृश्यमानं पुरुषमुपास्यत्वेनोपदिशति । न चोपास-
 नाकाले छायाकारं कंचित्पुरुषं चक्षुःसमीपे संनिधाप्योपास्त
 इति युक्तं कल्पयितुम् । ‘अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष
 नश्यति’ इति श्रुतिश्छायात्मनोऽप्यनवस्थितत्वं दर्शयति ।
 असंभावच्च । तस्मिन्नमृतत्वादीनां गुणानां न च्छायात्मनि
 प्रतीतिः । तथा विज्ञानात्मनोऽपि साधारणे कृत्स्नशरीरेन्द्रि-
 यसंबन्धे सति न चक्षुष्येवावस्थितत्वं शक्यं वक्तुम् । ब्रह्म-
 णस्तु सर्वव्यापिनोऽपि दृष्ट उपलब्ध्यर्थो हृदयादिदेशविशेष-
 संबन्धः । समानश्च विज्ञानात्मन्यप्यमृतत्वादीनां गुणानाम-
 संभवः । यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव, तथा-
 प्यविद्याकामकर्मकृतं तस्मिन्मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्य-
 मृतत्वाभयत्वे नोपपद्येते । संयद्ब्रामत्वादयश्चैतस्मिन्ननैश्वर्याद-

नुपपन्ना एव । देवतात्मनस्तु 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः'
इति श्रुतेः यद्यपि चक्षुष्यवस्थानं स्यात्, तथाप्यात्मत्वं तावन्न
संभवति, पराग्रूपत्वात् । अमृतत्वादयोऽपि न संभवन्ति,
उत्पत्तिप्रलयश्रवणात् । अमरत्वमपि देवानां चिरकालावस्था-
नापेक्षम् । ऐश्वर्यमपि परमेश्वरायन्तम्, न स्वाभाविकम्;
'भीषास्माद्घातः पवते, भीषोदेति सूर्यः । भीषास्माद्भिश्चेन्द्र-
श्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' इति मन्त्रवर्णात् । तस्मात्परमेश्वर
एवायमक्षिस्थानः प्रत्येतव्यः । अस्मिंश्च पक्षे 'दृश्यते' इति
प्रसिद्धवदुपादानं शास्त्रापेक्षं विद्वद्विषयं प्ररोचनार्थमिति
व्याख्येयम् ॥

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यप- देशात् ॥ १८ ॥

'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्त-
रो यमयति' इत्युपक्रम्य श्रूयते—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृ-
थ्वीं अन्तर्याम्य- धिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद् यस्य
धिकरणम् । पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमय-
त्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इत्यादि । अत्राधिदैवतम-
धिलोकमधिदेवमधियज्ञमधिभूतमध्यात्मं च कश्चिदन्तर-
वस्थितो यमयिता अन्तर्यामीति श्रूयते । स किमधिदैवा-

द्यभिमानी देवतात्मा कश्चित्, किं वा प्राप्राणिमाद्यैश्वर्यः
 कश्चिद्योगी, किं वा परमात्मा, किं वार्थान्तरं किञ्चित्,
 इत्यपूर्वसंज्ञादर्शनात्संशयः । किं तावन्नः प्रतिभाति ? संज्ञाया
 अप्रसिद्धत्वात्संज्ञिनाप्यप्रसिद्धेनार्थान्तरेण केनचिद्भ्रवितव्य-
 मिति । अथवा नानिरूपितरूपमर्थान्तरं किञ्चिदपि शक्यम-
 स्तीत्यभ्युपगन्तुम् । अन्तर्यामिशब्दश्चान्तर्यमनयोगेन प्रवृत्तौ
 नात्यन्तमप्रसिद्धः । तस्मात्पृथिव्याद्यभिमानी कश्चिद्देवोऽन्त-
 र्यामी स्यात् । तथा च श्रूयते—‘पृथिव्येव यम्यायतनमग्नि-
 लोको मनो ज्योतिः’ इत्यादि । स च कार्यकरणवत्त्वात्पृ-
 थिव्यादीनन्तस्तिष्ठन्यमयतीति युक्तं देवतात्मनो यमयितृ-
 त्वम् । योगिनो वा कस्यचित्सिद्धस्य सर्वानुप्रवेशेन यमयि-
 तृत्वं स्यात् । न तु परमात्मा प्रतीयते, अकार्यकरणत्वान् ;
 इत्येवं प्राप्ते—

इदमुच्यते— योऽन्तर्याम्यधिदैवादिषु श्रूयते, स परमा-
 त्मैव स्यात्, नान्य इति । कुतः ? तद्धर्मव्यपदेशात् । तस्य
 हि परमात्मनो धर्मा इह निर्दिश्यमाना दृश्यन्ते । पृथिव्यादि
 तावदधिदैवादिभेदभिन्नं समस्तं विकारजातमन्तस्तिष्ठन्यमय-
 तीति परमात्मनो यमयितृत्वं धर्म उपपद्यते ; सर्वविकारकार-
 णत्वे सति सर्वशक्त्युपपत्तेः । ‘एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः’

इति चात्मत्वामृतत्वे मुख्ये परमात्मन उपपद्येते । ‘यं पृथिवी न वेद्’ इति च पृथिवीदेवताया अविज्ञेयमन्तर्यामिणं ब्रुवन्देवतात्मनोऽन्यमन्तर्यामिणं दर्शयति । पृथिवी देवता ह्यहमस्मि पृथिवीत्यात्मानं विजानीयान् । तथा अदृष्टोऽश्रुतः’ इत्यादिव्यपदेशो रूपादिविहीनत्वात्परमात्मन उपपद्यत इति । यत्त्वकार्यकरणस्य परमात्मनो यमयितृत्वं नोपपद्यत इति, नैष दोषः ; यान्नियच्छति तत्कार्यकरणैरेव तस्य कार्यकरणत्वोपपत्तेः । तस्याप्यन्यो नियन्तेत्यनवस्थादोषश्च न संभवति, भेदाभावात् । भेदे हि सत्यनवस्थादोषोपपत्तिः । तस्मात्परमात्मैवान्तर्यामी ॥

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

स्यादेतत्—अदृष्टत्वादयो धर्माः सांख्यस्मृतिकल्पितस्य प्रधानस्याप्युपपद्यन्ते, रूपादिविहीनतया तस्य तैरभ्युपगमात् । ‘अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः’ इति हि स्मरन्ति । तस्यापि नियन्तृत्वं सर्वविकारकारणत्वादुपपद्यते । तस्मात्प्रधानमन्तर्यामिशब्दं स्यात् । ‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’ इत्यत्र निराकृतमपि सत् प्रधानमिहादृष्टत्वादिव्यपदेशसंभवेन पुनराशङ्क्यते । अत उत्तरमुच्यते—न च स्मार्तं प्रधानमन्तर्यामिशब्दं भवितुमर्हति । कस्मात् ? अतद्धर्माभिलापात् । यद्यप्यह-

ष्टृत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्य संभवति, तथापि न द्रष्टृत्वादि-
व्यपदेशः संभवति, प्रधानस्याचेतनत्वेन तैरभ्युपगमात् ।
'अदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता'
इति हि वाक्यशेष इह भवति । आत्मत्वमपि न प्रधान-
स्योपपद्यते ॥

यदि प्रधानमात्मत्वद्रष्टृत्वाद्यसंभवान्नान्तर्याम्यभ्युपगम्य-
ते, शारीरस्तर्ह्यन्तर्यामी भवतु । शारीरो हि चेतनत्वाद्द्रष्टा
श्रोता मन्ता विज्ञाता च भवति, आत्मा च प्रत्यक्त्वात् ।
अमृतश्च, धर्माधर्मफलोपभोगोपपत्तेः । अदृष्टत्वादयश्च ध-
र्माः शारीरे सुप्रसिद्धाः ; दर्शनादिक्रियायाः कर्तारि प्रवृत्ति-
विरोधात्, 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । तस्य
च कार्यकरणसंघातमन्तर्यमयितुं शीलम्, भोक्तृत्वात् । त-
स्माच्छारीरोऽन्तर्यामीत्यत उत्तरं पठति—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनै-

नमधीयते ॥ २० ॥

नेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । शारीरश्च नान्तर्यामी स्यात् ।
कस्मात्? यद्यपि द्रष्टृत्वादयो धर्मास्तस्य संभवन्ति, त-
थापि घटाकाशवदुपाधिपरिच्छिन्नत्वान्न कात्स्न्येन पृथि-

व्यादिष्वन्तरवस्थातुं नियन्तुं च शक्नोति । अपि चोभ-
येऽपि हि शाखिनः काण्वा माध्यंदिनाश्चान्तर्यामिणो भेदे-
नैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधी-
यते— ‘यो विज्ञाने तिष्ठन्’ इति काण्वाः । ‘य आत्मनि
तिष्ठन्’ इति माध्यंदिनाः । ‘य आत्मनि तिष्ठन्’ इत्य-
स्मिस्तावत् पाठे भवत्यात्मशब्दः शारीरस्य वाचकः । ‘यो
विज्ञाने तिष्ठन्’ इत्यस्मिन्नपि पाठे विज्ञानशब्देन शारीर
उच्यते, विज्ञानमयो हि शारीर इति । तस्माच्छारीरादन्य
ईश्वरोऽन्तर्यामीति सिद्धम् । कथं पुनरेकस्मिन्देहे द्वौ द्रष्टा-
रावुपपद्येते— यश्चायमीश्वरोऽन्तर्यामी, यश्चायमितरः शा-
रीरः? का पुनरिहानुपपत्तिः? ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’
इत्यादिश्रुतिवचनं विरुध्येत । अत्र हि प्रकृतादन्तर्यामिणो-
ऽन्यं द्रष्टारं श्रोतारं मन्तारं विज्ञातारं चात्मानं प्रतिषेधति ।
नियन्त्रन्तरप्रतिषेधार्थमेतद्वचनमिति चेत्, न; नियन्त्रन्तरा-
प्रसङ्गादविशेषश्रवणाच्च । अत्रोच्यते—अविद्याप्रत्युपस्थापि-
तकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदे-
शः, न पारमार्थिकः । एको हि प्रत्यगात्मा भवति, न द्वौ
प्रत्यगात्मानौ संभवतः । एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधि-
कृतः, यथा घटाकाशो महाकाश इति । ततश्च ज्ञातृज्ञेया-

दिभेदश्रुतयः प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि संसारानुभवो विधि-
प्रतिषेधशास्त्रं चेति सर्वमेतदुपपद्यते । तथा च श्रुतिः—
'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यविद्या-
विषये सर्वं व्यवहारं दर्शयति । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभू-
त्तत्केन कं पश्येत्' इति विद्याविषये सर्वं व्यवहारं वार-
यति ॥

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

'अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्रेश्यमग्रा-
ह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्, नित्यं विभुं सर्वगतं

६. अदृश्यत्वाद्य- सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्य-
धिकरणम् । न्ति धीराः' इति श्रूयते । तत्र संशयः—

किमयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः प्रधानं स्यात्, उत
शारीरः, आहोस्वित्परमेश्वर इति । तत्र प्रधानमचेतनं
भूतयोनिरिति युक्तम्, अचेतनानामेव तत्र दृष्टान्तत्वेनो-
पादानात् । 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथि-
व्यामोषधयः संभवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्' इति । ननूर्णनाभिः पुरुषश्च
चेतनाविह दृष्टान्तत्वेनोपात्तौ; नेति ब्रूमः । न हि केव-
लस्य चेतनस्य तत्र सूत्रयोनित्वं केशलोमयोनित्वं वास्ति ।

चेतनाधिष्ठितं ह्यचेतनमूर्णनाभिशरीरं सूत्रस्य योनिः, पुरुषशरीरं च केशलोम्नामिति प्रसिद्धम् । अपि च पूर्वत्रादृष्टत्वाद्यभिलापसंभवेऽपि द्रष्टृत्वाद्यभिलापासंभवात् प्रधानमभ्युपगतम् । इह त्वदृश्यत्वादयो धर्माः प्रधाने संभवन्ति । न चात्र विरुध्यमानो धर्मः कश्चिदभिलष्यते । ननु 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्ययं वाक्यशेषोऽचेतने प्रधाने न संभवति, कथं प्रधानं भूतयोनिः प्रतिज्ञायत इति; अत्रोच्यते—'यया तदक्षरमधिगम्यते' यत्तददृश्यम्' इत्यक्षरशब्देनादृश्यत्वादिगुणकं भूतयोनिं श्रावयित्वा, पुनरन्ते श्रावयिष्यति—'अक्षरात्परतः परः' इति । तत्र यः परोऽक्षराच्छ्रुतः, स सर्वज्ञः सर्ववित्संभविष्यति । प्रधानमेव त्वक्षरशब्दनिर्दिष्टं भूतयोनिः । यदा तु योनिशब्दो निमित्तवाची, तदा शारीरोऽपि भूतयोनिः स्यात्, धर्माधर्माभ्यां भूतजातस्योपार्जनादिति । एवं प्राप्ते—

अभिधीयते— योऽयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः, स परमेश्वर एव स्यात्, नान्य इति । कथमेतदवगम्यते? धर्मोक्तेः । परमेश्वरस्य हि धर्म इहोच्यमानो दृश्यते—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति । न हि प्रधानस्याचेतनस्य शारीरस्य वोपाधिपरिच्छिन्नदृष्टेः सर्वज्ञत्वं सर्व-

वित्त्वं वा संभवति । नन्वक्षरशब्दनिर्दिष्टाद्भूतयोनेः परस्यैव एतत्सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च, न भूतयोनिविषयमित्युक्तम् ; अत्रोच्यते— नैवं संभवति ; यत्कारणम् ‘अक्षरात्संभवतीह विश्रमम्’ इति प्रकृतं भूतयोनिभिह जायमानप्रकृतित्वेन निर्दिश्य, अनन्तरमपि जायमानप्रकृतित्वेनैव सर्वज्ञं निर्दिशति— ‘यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते’ इति । तस्मान्निर्देशसाम्येन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्प्रकृतस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेः सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च धर्म उच्यते इति गम्यते । ‘अक्षरात्परतः परः’ इत्यत्रापि न प्रकृताद्भूतयोनेरक्षरात्परः कश्चिद्भिधीयते ; कथमेतदवगम्यते ? ‘येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्’ इति प्रकृतस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेरदृश्यत्वादिगुणकस्य वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातत्वात् । कथं तर्हि ‘अक्षरात्परतः परः’ इति व्यपदिश्यते इति, उत्तरसूत्रे तद्वक्ष्यामः । अपि चात्र द्वे विद्ये वेदितव्ये उक्ते— ‘परा चैवापरा च’ इति । तत्रापराऽमृगवेदादिलक्षणां विद्यामुक्त्वा ब्रवीति ‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते’ इत्यादि । तत्र परस्या विद्याया विषयत्वेनाक्षरं श्रुतम् । यदि पुनः परमेश्वरादन्यददृश्यत्वादिगुणकमक्षरं

परिकल्प्येत, नेयं परा विद्या स्यात् । परापरविभागो ह्ययं विद्ययोः अभ्युदयनिःश्रेयसफलतया परिकल्प्यते । न च प्रधानस्य विद्या निःश्रेयसफला केनचिदभ्युपगम्यते । तिस्रश्च विद्याः प्रतिज्ञायेरन्, त्वत्पक्षेऽक्षराद्भूतयोनेः परस्य परमात्मनः प्रतिपाद्यमानत्वात् । द्वे एव तु विद्ये वेदितव्ये इह निर्दिष्टे । ‘कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति’ इति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणं सर्वात्मके ब्रह्मणि विवक्ष्यमाणेऽवकल्पते, नाचेतनमात्रैकायतने प्रधाने, भोग्यव्यतिरिक्ते वा भोक्तरि । अपि च ‘स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह’ इति ब्रह्मविद्यां प्राधान्येनोपक्रम्य परापरविभागेन परां विद्यामक्षराधिगमनीं दर्शयन् तस्या ब्रह्मविद्यात्वं दर्शयति । सा च ब्रह्मविद्यासमाख्या तदधिगम्यस्य अक्षरस्याब्रह्मत्वे बाधिता स्यात् । अपरा ऋग्वेदादिलक्षणा कर्मविद्या ब्रह्मविद्योपक्रमे उपन्यस्यते ब्रह्मविद्याप्रशंसायै— ‘प्लवा ह्येते अट्टा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो वेऽभिनन्दन्ति मूढा जरां मृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति’ इत्येवमादिनिन्दावचनात् । निन्दित्वा चापरां विद्यां ततो विरक्तस्य परविद्याधिकारं दर्शयति— ‘परीक्ष्य लोकान्कर्म-

चितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं
 स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इति ।
 यत्तुक्तम्— अचेतनानां पृथिव्यादीनां दृष्टान्तत्वेनोपादाना-
 दार्ष्टान्तिकेनाप्यचेतनेनैव भूतयोनिना भवितव्यमिति, तद्-
 युक्तम्; न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाम्येन भवि-
 तव्यमिति नियमोऽस्ति; अपि च स्थूलाः पृथिव्यादयो
 दृष्टान्तत्वेनोपात्ता इति न स्थूल एव दार्ष्टान्तिको भूतयो-
 निरभ्युपगम्यते । तस्माद्द्रव्यत्वादिगुणको भूतयोनिः पर-
 मेश्वर एव ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

इतश्च परमेश्वर एव भूतयोनिः, नेतरौ— शारीरः
 प्रधानं वा । कस्मात्? विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम् । विशि-
 नष्टि हि प्रकृतं भूतयोनिं शारीराद्विलक्षणत्वेन— 'दिव्यो
 ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः
 शुभ्रः' इति । न ह्येतद्विव्यत्वादिविशेषणम् अविद्याप्रत्युप-
 स्थापितनामरूपपरिच्छेदाभिमानिनः तद्धर्मान्स्वात्मनि क-
 ल्पयतः शारीरस्योपपद्यते । तस्मात्साक्षादौपनिषदः पुरुष

इहोच्यते । तथा प्रधानादपि प्रकृतं भूतयोनिं भेदेन व्यपदिशति— ‘अक्षरात्परतः परः’ इति । अक्षरमव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रयं तस्यैवोपाधिभूतम्, सर्वस्माद्विकारात्परो योऽविकारः, तस्मात्परतः परः इति भेदेन व्यपदिशन् परमात्मानमिह विवक्षितं दर्शयति । नाल् प्रधानं नाम किञ्चित्स्वतन्त्रं तत्त्वमभ्युपगम्य, तस्माद्भेदव्यपदेश उच्यते । किं तर्हि? यदि प्रधानमपि कल्प्यमानं श्रुत्यविरोधेनाव्याकृतादिशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्मं परिकल्प्येत, कल्प्यताम् । तस्माद्भेदव्यपदेशात् परमेश्वरो भूतयोनिरित्येतदिह प्रतिपाद्यते ॥

कुतश्च परमेश्वरो भूतयोनिः?—

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

अपि च ‘अक्षरात्परतः परः’ इत्यस्यानन्तरम् ‘एतस्माज्जायते प्राणः’ इति प्राणप्रभृतीनां पृथिवीपर्यन्तानां तत्त्वानां सर्गमुक्त्वा, तस्यैव भूतयोनेः सर्वविकारात्मकं रूपमुपन्यस्यमानं पश्यामः— ‘अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विबृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्रमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा’ इति । तच्च परमेश्वरस्यैवोचितम्, सर्वविकारकारणत्वात्;

न शारीरस्य तनुमहिम्नः ; नापि प्रधानस्य अयं रूपोपन्यासः
संभवति, सर्वभूतान्तरात्मत्वासंभवात् । तस्मात्परमेश्वर
एव भूतयोनिः, नेतराविति गम्यते । कथं पुनर्भूतयो-
नेरयं रूपोपन्यास इति गम्यते? प्रकरणात्, 'एषः'
इति च प्रकृतानुकर्षणात् । भूतयोनिं हि प्रकृत्य 'एतस्मा-
ज्जायते प्राणः' 'एषः सर्वभूतान्तरात्मा' इति वचनं
भूतयोनिविषयमेव भवति; यथा उपाध्यायं प्रकृत्य 'एत-
स्मादधीध्व, एष वेदवेदाङ्गपारगः' इति वचनमुपाध्याय-
विषयं भवति, तद्वत् । कथं पुनरदृश्यत्वादिगुणकस्य भूत-
योनेर्विग्रहवद्रूपं संभवति? सर्वात्मत्वविवक्षयेदमुच्यते, न तु
विग्रहवत्त्वविवक्षया इत्यदोषः, 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम,
अहमन्नादः' इत्यादिवत् ।

अन्ये पुनर्मन्यन्ते— नायं भूतयोनेः रूपोपन्यासः,
जायमानत्वेनोपन्यासात् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः
सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य
धारिणी' इति हि पूर्वत्र प्राणादि पृथिव्यन्तं तत्त्वजातं जाय-
मानत्वेन निरदिक्षत् । उत्तरत्रापि च 'तस्मादग्निः समिधो
यस्य सूर्यः' इत्येवमादि 'अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च' इत्येव-
मन्तं जायमानत्वेनैव निर्देक्ष्यति । इहैव कथमकस्मादन्तराले

भूतयोनेः रूपमुपन्यस्येत् ? सर्वात्मत्वमपि सृष्टिं परिसमाप्यो-
पदेक्ष्यति— ‘पुरुष एवेदं विश्वं कर्म’ इत्यादिना । श्रुति-
स्मृत्योश्च त्रैलोक्यशरीरस्य प्रजापतेर्जन्मादि निर्दिश्यमान-
मुपलभामहे— ‘हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः
पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय
हविषा विधेम’ इति— समवर्ततेति अजायतेत्यर्थः—
तथा, ‘स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते । आदि-
कर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत’ इति च । विकारपुरुष-
स्यापि सर्वभूतान्तरात्मत्वं संभवति, प्राणात्मना सर्वभूता-
नामध्यात्ममवस्थानात् । अस्मिन्पक्षे ‘पुरुष एवेदं विश्वं
कर्म’ इत्यादिसर्वरूपोपन्यासः परमेश्वरप्रतिपत्तिहेतुरिति
व्याख्येयम् ॥

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

‘को न आत्मा किं ब्रह्म’ इति ‘आत्मानमेवेमं वैश्वानरं
संप्रत्यक्षेषु तमेव नो ब्रूहि’ इति चोपक्रम्य द्युसूर्यवाय्वाका-
७. वैश्वानराधि- शवारिपृथिवीनां सुतेजस्त्वादिगुणयोगमेकै-
करणम् । कोपासननिन्दया च वैश्वानरं प्रत्येषां
मूर्धादिभावमुपदिश्याम्नायते— ‘यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्र-

मभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते, स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमत्ति ; तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपो वायुः प्राणः पृथग्वत्मात्मा संदेहो बंहूलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिल्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपंचन आस्यमाहवनीयः' इत्यादि । तत्र संशयः— किं वैश्वानरशब्देन जाठरोऽग्निरुपदिश्यते, उत भूताग्निः, अथ तदभिमानिनी देवता, अथवा शारीरः, आहोस्वित्परमेश्वरः इति । किं पुनरत्र संशयकारणम् ? वैश्वानर इति जाठरभूताग्निदेवतानां साधारणशब्दप्रयोगात्, आत्मेति च शारीरपरमेश्वरयोः । तत्र कस्योपादानं न्याय्यं कस्य वा हानमिति भवति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? जाठरोऽग्निरिति ; कुतः ? तत्र हि विशेषेण क्वचित्प्रयोगो दृश्यते— 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते' इत्यादौ । अग्निमात्रं वा स्यात्, तत्सामान्येनापि प्रयोगदर्शनात्— 'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमहामकृण्वन्' इत्यादौ अग्निशरीरा वा देवता स्यात्, तस्यामपि प्रयोगदर्शनात्— 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिशीः' इत्येवमाद्याः श्रुतेर्देवतायामैश्वर्याद्युपेतायां संभवात् ।

अथात्मशब्दसामानाधिकरण्यादुपक्रमे च 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति केवलात्मशब्दप्रयोगादात्मशब्दवशेन वैश्वानरशब्दः परिणेत्य इत्युच्यते, तथापि शारीर आत्मा स्यात्; तस्य भोक्तृत्वेन वैश्वानरसंनिकर्षात्, प्रादेशमालमिति च विशेषणस्य तस्मिन्नुपाधिपरिच्छिन्ने संभवान् । तस्मान्नेश्वरो वैश्वानर इत्येवं प्राप्तम् ॥

तत्रेदमुच्यते— वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हति । कुतः? साधारणशब्दविशेषात्; साधारणशब्दयोर्विशेषः साधारणशब्दविशेषः; यद्यप्येतावुभावप्यात्मवैश्वानरशब्दौ साधारणशब्दौ— वैश्वानरशब्दस्तु त्रयाणां साधारणः, आत्मशब्दश्च द्वयोः— तथापि विशेषो दृश्यते;— येन परमेश्वरपरत्वं तयोरभ्युपगम्यते— 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादिः । अत्र हि परमेश्वर एव द्युमूर्धत्वादिविशिष्टोऽवस्थान्तरगतः प्रत्यगात्मत्वेनोपन्यस्त आध्यानायेति गम्यते, कारणत्वान् । कारणस्य हि सर्वाभिः कार्यगताभिरवस्थाभिरवस्थावत्त्वात् द्युलोकाद्यवयवत्वमुपपद्यते । 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमत्ति' इति च सर्वलोकाद्याश्रयं फलं श्रूयमाणं परमकारणपरिग्रहे संभवति; एवम् हास्य सर्वे पाप्मानः

प्रदूयन्ते' इति च तद्विदः सर्वपाप्मप्रदाहश्रवणम्, 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति चात्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रमः;— इत्येवमन्तानि ब्रह्मलिङ्गानि परमेश्वरमेव गमयन्ति । तस्मात्परमेश्वर एव वैश्वानरः ॥

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः; यस्मात्परमेश्वरस्यैव 'अग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा' इतीदृशं त्रैलोक्यात्मकं रूपं स्मर्यते— 'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः । सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः' इति । तत्स्मर्यमाणं रूपं मूलभूतां श्रुतिमनुमापयदस्य वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वरपरत्वे अनुमानं लिङ्गं गमकं स्यादित्यर्थः । इतिशब्दो हेत्वर्थे— यस्मादिदं गमकम्, तस्मादपि वैश्वानरः परमात्मैवेत्यर्थः । यद्यपि स्तुतिरियम्— 'तस्मै लोकात्मने नमः' इति, तथापि स्तुतित्वमपि नासति मूलभूते वेदवाक्ये सम्यक् ईदृशेन रूपेण संभवति । 'द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे । दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता' इत्येवंजातीयका च स्मृतिरिहोदाहर्तव्या ॥

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न
 तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुष-
 मपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

अत्राह— न परमेश्वरो वैश्वानरो भवितुमर्हति । कुतः ?
 शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च । शब्दस्तावत्— वैश्वानरश-
 ब्दो न परमेश्वरे संभवति, अर्थान्तरे रूढत्वात्; तथाग्नि-
 शब्दः ‘स एषोऽग्निर्वैश्वानरः’ इति । आदिशब्दात् ‘हृदयं
 गार्हपत्यः’ इत्याद्यग्नित्रेताप्रकल्पनम्; ‘तद्यद्भक्तं प्रथममाग-
 च्छेत्तद्धोमीयम्’ इत्यादिना च प्राणाहुत्यधिकरणतासंकीर्त-
 नम् । एतेभ्यो हेतुभ्यो जाठरो वैश्वानरः प्रत्येतव्यः । तथा-
 न्तःप्रतिष्ठानमपि श्रूयते—‘पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद’
 इति । तच्च जाठरे संभवति । यदप्युक्तम् ‘मूर्धैव सुतेजाः’
 इत्यादेर्विशेषात्कारणात्परमात्मा वैश्वानर इति, अत्र ब्रूमः—
 कुतो न्वेष निर्णयः, यदुभयथापि विशेषप्रतिभाने सति पर-
 मेश्वरविषय एव विशेष आश्रयणीयो न जाठरविषय इति ।
 अथवा भूताग्नेरन्तर्बाहिश्चावतिष्ठमानस्यैष निर्देशो भविष्य-
 ति । तस्यापि हि द्युलोकादिसंबन्धो मन्त्रवर्णं अवगम्यते—
 ‘यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्’

इत्यादौ । अथवा तच्छरीराया देवताया ऐश्वर्ययोगात् बुलो-
काद्यवयवत्वं भविष्यति । तस्मान्न परमेश्वरो वैश्वानर
इति ॥

अत्रोच्यते— न तथादृष्ट्युपदेशादिति । न शब्दादि-
भ्यः कारणेभ्यः परमेश्वरस्य प्रत्याख्यानं युक्तम् । कुतः ?
तथा जाठरापरित्यागेन, दृष्ट्युपदेशात् । परमेश्वरदृष्टिर्हि जा-
ठरे वैश्वानरे इहोपदिश्यते—‘मनो ब्रह्मेत्युपासीत’ इत्यादि-
वन् । अथवा जाठरवैश्वानरोपाधिः परमेश्वर इह द्रष्टव्यत्वे-
नोपदिश्यते—‘मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः’ इत्यादि-
वन् । यदि चेह परमेश्वरो न विवक्ष्येत, केवल एव जाठ-
रोऽग्निर्विवक्ष्येत, ततः ‘मूर्धैव सुतेजाः’ इत्यादेर्विशेषस्यासं-
भव एव स्यात् । यथा तु देवताभूताग्निव्यपाश्रयेणाप्ययं
विशेष उपपादयितुं न शक्यते, तथोत्तरसूत्रे वक्ष्यामः ।
यदि च केवल एव जाठरो विवक्ष्येत, पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठित-
त्वं केवलं तस्य स्यात् ; न तु पुरुषत्वम् ; पुरुषमपि चैनम-
धीयते वाजसनेयिनः—‘स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स
यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वे-
द’ इति । परमेश्वरस्य तु सर्वात्मत्वात्पुरुषत्वं पुरुषेऽन्तःप्र-
तिष्ठितत्वं चोभयमुपपद्यते । ये तु ‘पुरुषविधमपि चैनम-

धीयते' इति सूत्रावयवं पठन्ति, तेषामेषोऽर्थः— केवल-
जाठरपरिग्रहे पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं स्यात् ; न तु पुरु-
षविधत्वम् ; पुरुषविधमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—
' पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद ' इति । पुरुषविधत्वं च
प्रकरणात् यदधिदैवतं द्युमूर्धत्वादि पृथिवीप्रतिष्ठितत्वान्तम्,
यच्चाध्यात्मं प्रसिद्धं मूर्धत्वादि चुबुकप्रतिष्ठितत्वान्तम्,
तत्परिगृह्यते ॥

अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

यत्पुनरुक्तम्—भूताग्नेरपि मन्त्रवर्णे द्युलोकादिसंबन्धदर्श-
नान् 'मूर्धैव सुतेजाः' इत्याद्यवयवकल्पनं तस्यैव भविष्यतीति,
तच्छरीराया देवताया वा ऐश्वर्ययोगादिति ; तत्परिहर्तव्य-
म् । अत्रोच्यते—अत एवोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न देवता वैश्वान-
नरः । तथा भूताग्निरपि न वैश्वानरः ; न हि भूताग्नेरौष्ण्य-
प्रकाशमात्रात्मकस्य द्युमूर्धत्वादिकल्पनोपपद्यते, विकारस्य
विकारान्तरात्मत्वासंभवात् । तथा देवतायाः सत्यप्यैश्वर्ययोगे
न द्युमूर्धत्वादिकल्पना संभवति, अकारणत्वात् परमेश्वराधी-
नैश्वर्यत्वाच्च । आत्मशब्दासंभवश्च सर्वेष्वेषु पक्षेषु स्थित
एव ॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

पूर्वं जाठराग्निप्रतीको जाठराग्न्युपाधिको वा परमेश्वर
 उपास्य इत्युक्तम् अन्तःप्रतिष्ठितत्वाद्यनुरोधेन । इदानीं तु
 विनैव प्रतीकोपाधिकल्पनाभ्यां साक्षादपि परमेश्वरोपासन-
 परिग्रहे न कश्चिद्विरोध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ।
 ननु जाठराग्न्यपरिग्रहेऽन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं शब्दादीनि च
 कारणानि विरुद्ध्येरन्निति ; अत्रोच्यते— अन्तःप्रतिष्ठितत्व-
 वचनं तावन्न विरुद्ध्यते । न हीह 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः
 प्रतिष्ठितं वेद' इति जाठराग्न्यभिप्रायेणेदमुच्यते, तस्या-
 प्रकृतत्वादसंशब्दितत्वाच्च ; कथं तर्हि, यत्प्रकृतं मूर्धादि-
 चुबुकान्तेषु पुरुषावयवेषु पुरुषविधत्वं कल्पितम्, तदभि-
 प्रायेणेदमुच्यते— 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद'
 इति ; यथा वृक्षे शाखां प्रतिष्ठितां पश्यतीति, तद्वत् ।
 अथवा यः प्रकृतः परमात्माध्यात्ममधिदैवतं च पुरुषवि-
 धत्वोपाधिः, तस्य यत्केवलं साक्षिरूपम्, तदभिप्रायेणेदमु-
 च्यते— 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' इति । निश्चिते
 च पूर्वापरालोचनवशेन परमात्मपरिग्रहे, तद्विषय एव वैश्वान-
 नरशब्दः केनचिद्योगेन वर्तिष्यते— विश्वश्चायं नरश्चेति,
 विश्वेषां वायं नरः, विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानरः

परमात्मा, सर्वात्मत्वात्, विश्वानर एव वैश्वानरः; तद्धितोऽनन्यार्थः, राक्षसवायसादिवत् । अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयणेन परमात्मविषय एव भविष्यति । गार्हपत्यादिकल्पनं प्राणाहुत्यधिकरणत्वं च परमात्मनोऽपि सर्वात्मत्वादुपपद्यते ॥

कथं पुनः परमेश्वरपरिग्रहे प्रादेशमात्रश्रुतिरूपपद्यत इति, तां व्याख्यातुमारभते—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

अतिमात्रस्यापि परमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वमभिव्यक्तिनिमित्तं स्यात् । अभिव्यज्यते किल प्रादेशमात्रपरिमाणः परमेश्वर उपासकानां कृते । प्रदेशविशेषेषु वा हृदयादिषूपलब्धिस्थानेषु विशेषेणाभिव्यज्यते । अतः परमेश्वरेऽपि प्रादेशमात्रश्रुतिरभिव्यक्तेरूपपद्यत इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

प्रादेशमात्रहृदयप्रतिष्ठितेन वायं मनसानुस्मर्यते; तेन 'प्रादेशमात्रः' इत्युच्यते; यथा प्रस्थमिता यवाः प्रस्था इत्युच्यन्ते, तद्वत् । यद्यपि च यवेषु स्वगतमेव परिमाणं प्रस्थ-

संबन्धाद्भ्यज्यते, न चेह परमेश्वरगतं किञ्चित्परिमाणमस्ति—
 यद्भृदयसंबन्धाद्भ्यज्येत; तथापि प्रयुक्तायाः प्रादेशमात्रश्रुतेः
 संभवति यथाकथंचिदनुस्मरणमालम्बनमित्युच्यते । प्रादे-
 शमात्रत्वेन वायमप्रादेशमात्रोऽप्यनुस्मरणीयः प्रादेशमात्र-
 श्रुत्यर्थवत्तायै । एवमनुस्मृतिनिमित्ता परमेश्वरे प्रादेशमात्र-
 श्रुतिरिति बादरिराचार्यो मन्यते ॥

संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि

दर्शयति ॥ ३१ ॥

संपत्तिनिमित्ता वा स्यात्प्रादेशमात्रश्रुतिः । कुतः? तथाहि
 समानप्रकरणं बाजसनेयिब्राह्मणं द्युप्रभृतीन्पृथिवीपर्यन्तां-
 ष्वैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्यावयवानध्यात्ममूर्धप्रभृतिषु चुबु-
 कपर्यन्तेषु देहावयवेषु संपादयत्प्रादेशमात्रसंपत्तिं परमेश्व-
 रस्य दर्शयति— ‘प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता
 अभिसंपन्नास्तथा तु व एतान्वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्र-
 मेवाभिसंपादयिष्यामीति । स होवाच मूर्धानमुपदिशन्नु-
 वाचैष वा अतिष्ठा वैश्वानर इति । चक्षुषी उपदिशन्नुवा-
 चैष वै सुतेजा वैश्वानर इति । नासिके उपदिशन्नुवाचैष
 वै पृथगवर्त्मात्मा वैश्वानर इति । मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवा-
 चैष वै बहुलो वैश्वानर इति । मुख्या अप उपदि-

शत्रुवाचैष वै रथिवेश्वानर इति । चुबुकमुपदिशत्रुवा-
चैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानरः' इति । चुबुकमित्यधरं मुखफल-
कमुच्यते । यद्यपि वाजसनेयके द्यौरतिष्ठात्वगुणा समाम्ना-
यते, आदित्यश्च सुतेजस्त्वगुणः, छान्दोग्ये पुनः द्यौः सुते-
जस्त्वगुणा समाम्नायते, आदित्यश्च विश्वरूपत्वगुणः ; तथा-
पि नैतावता विशेषेण किञ्चिद्धीयते, प्रादेशमात्रश्रुतेरविशे-
षात्, सर्वशाखाप्रत्ययत्वाच्च । संपत्तिनिमित्तां प्रादेशमात्र-
श्रुतिं युक्ततरां जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

आमनन्ति चैनं परमेश्वरमस्मिन्मूर्धचुबुकान्तराले जा-
बालाः— 'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते
प्रतिष्ठित इति । सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । वरणायां
नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नासी-
ति' । तत्र चेमामेव नासिकाम् 'सर्वाणीन्द्रियकृतानि
पापानि वारयतीति सा वरणा, सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि
नाशयतीति सा नासी' इति वरणानासीति निरुच्य, पुन-
रप्यामनन्ति— कतमच्चास्य स्थानं भवतीति । भ्रुवोर्ग्रा-
णस्य च यः संधिः स एष शुलोकस्य परस्य च संधि-

र्भवति— इति । तस्मादुपपन्ना परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिः ।
 अभिविमानश्रुतिः प्रत्यगात्मत्वाभिप्राया । प्रत्यगात्मतया सर्वैः
 प्राणिभिरभिविमीयत इत्यभिविमानः ; अभिगतो वायं प्रत्य-
 गात्मत्वान्, विमानश्च मानवियोगात् इत्यभिविमानः ।
 अभिविमिमीते वा सर्वे जगत्, कारणत्वादित्यभिविमानः ;
 तस्मात्परमेश्वरो वैश्वानर इति सिद्धम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द-

भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

शारीरकमीमांसासूत्रभाष्ये

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥



श्रीमच्छंकरभगवत्पादैर्विरचितम्

॥ ब्रह्मसूत्रभाष्यम् ॥

प्रथमाध्याये

तृतीयः पादः

ॐ

तृतीयः पादः ॥

—*—

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

इदं श्रूयते— ‘यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः
सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो
१. द्युभ्वाद्याधि- विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः’ इति । अत्र
करणम् । यदेतद्द्युप्रभृतीनामोतत्ववचनादायतनं किं-
चिद्वगम्यते, तत्किं परं ब्रह्म स्यात्, आहोस्विदर्थान्तर-
भिति संदिह्यते । तत्रार्थान्तरं किमप्यायतनं स्यादिति
प्राप्तम् । कस्मात्? ‘अमृतस्यैष सेतुः’ इति श्रवणात् । पार-
वान्हि लोके सेतुः प्रख्यातः । न च परस्य ब्रह्मणः पार-
वत्त्वं शक्यमभ्युपगन्तुम्— ‘अनन्तमपारम्’ इति श्रव-
णात् । अर्थान्तरे चायतने परिगृह्यमाणे स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानं
परिग्रहीतव्यम्, तस्य कारणत्वादायतनत्वोपपत्तेः । श्रुति-
प्रसिद्धो वा वायुः स्यात्—‘वायुर्वाव गौतम तत्सूत्रं वा-
युना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि

च भूतानि संद्वन्धानि भवन्ति' इति वायोरपि विधारणत्वश्रवणान् । शारीरो वा स्यात्;— तस्यापि भोक्तृत्वान्, भोग्यं प्रपञ्चं प्रत्यायतनत्वोपपत्तेः इत्येवं प्राप्ते—

इदमाह— द्युभ्वाद्यायतनमिति । द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ, द्युभुवौ आदी यस्य तदिदं द्युभ्वादि । यदेतदस्मिन्वाक्ये द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं मनः प्राणा इत्येवमात्मकं जगत् ओतत्वेन निर्दिष्टम्, तस्यायतनं परं ब्रह्म भवितुमर्हति । कुतः ? स्वशब्दान् आत्मशब्दादित्यर्थः । आत्मशब्दो हीह भवति— 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति । आत्मशब्दश्च परमात्मपरिग्रहे सम्यगवकल्पते, नार्थान्तरपरिग्रहे । कच्चिच्च स्वशब्देनैव ब्रह्मण आयतनत्वं श्रूयते— 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इति । स्वशब्देनैव चेह पुरस्तादुपरिष्ठाच्च ब्रह्म संकीर्त्यते— 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' इति, 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण' इति च । तत्र त्वायतनायतनवद्भावश्रवणान् । सर्वं ब्रह्मेति च सामानाधिकरण्यात्, यथा ह्यनेकात्मको वृक्षः शाखा स्कन्धो मूलं चेति, एवं नानारसो विचित्र आत्मेत्याशङ्का संभवति; तां निवर्तयितुं सावधारणमाह— 'तमेवैकं जानथ आत्मा-

नम' इति । एतदुक्तं भवति— न कार्यप्रपञ्चविशिष्टो विचित्र आत्मा विज्ञेयः ; किं तर्हि, अविद्याकृतं कार्यप्रपञ्चं विद्यया प्रविलापयन्तः तमेवैकमायतनभूतमात्मानं जानथ एकरसमिति । यथा 'यस्मिन्नास्ते देवदत्तस्तदानय' इत्युक्ते आसनमेवानयति, न देवदत्तम् ; तद्वदायतनभूतस्यैवैकरस-
 ह्यात्मनो विज्ञेयत्वमुपदिश्यते । विकारानृताभिसंधस्य चा-
 पवादः श्रूयते— 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति । 'सर्वं ब्रह्म' इति तु सामानाधिकरण्यं प्रपञ्चविलापनार्थम्, न अनेकरसताप्रतिपादनार्थम्, 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' इत्येक-
 रसताश्रवणात् । तस्माद्दृष्टुं भ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म । यत्तूक्तम्—
 सेतुश्रुतेः, सेतोश्च पारवत्त्वोपपत्तेः, ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्यु-
 भ्वाद्यायतनेन भवितव्यमिति, अत्रोच्यते— विधारणत्व-
 मात्रमेव सेतुश्रुत्या विवक्ष्यते, न पारवत्त्वादि । न हि मृदारुमयो लोके सेतुर्दृष्ट इत्यत्रापि मृदारुमय एव सेतु-
 रभ्युपगम्यते । सेतुशब्दार्थोऽपि विधारणत्वमात्रमेव, न पारवत्त्वादि, षिवो बन्धनकर्मणः सेतुशब्दव्युत्पत्तेः । अ-
 पर आह—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति यदेतत्संकी-

र्तितमात्मज्ञानम्, यच्चैतत् 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' इति वाग्विमोचनम्, तत् अत्र अमृतत्वसाधनत्वात्, 'अमृतस्यैष सेतुः' इति सेतुश्रुत्या संकीर्यते; न तु द्युभ्वाद्यायतनम् । तत्र यदुक्तम्— सेतुश्रुतेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भवितव्यमिति, एतदयुक्तम् ॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

इतश्च परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम्; यस्मान्मुक्तोपसृप्यतास्य व्यपदिश्यमाना दृश्यते । मुक्तैरुपसृप्यं मुक्तोपसृप्यम् । देहादिष्वनात्मसु अहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या, ततस्तपूजनादौ रागः, तत्परिभवादौ च द्वेषः, तदुच्छेददर्शनाद्भयं मोहश्च—इत्येवमयमनन्तभेदोऽनर्थत्रातः संततः सर्वेषां नः प्रत्यक्षः । तद्विपर्ययेणाविद्यारागद्वेषादिदोषमुक्तैरुपसृप्यमुपगम्यभेतदिति द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृत्य व्यपदेशो भवति; कथम्? 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इत्युक्त्वा, ब्रवीति— 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इति । ब्रह्मणश्च मुक्तोपसृप्यत्वं प्रसिद्धं शास्त्रे—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' इत्येवमादौ । प्रधानादीनां तु न क-

चिन्मुक्तोपसृप्यत्वमस्ति प्रसिद्धम् । अपि च ‘तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः’ इति वाग्विमोकपूर्वकं विज्ञेयत्वमिह द्युभ्वाद्यायतनस्योच्यते । तच्च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मणो दृष्टम्—‘तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्ब्रह्मशब्दान्वाचो विगलापनं हि तत्’ इति । तस्मादपि द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म ॥

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

यथा ब्रह्मणः प्रतिपादको वैशेषिको हेतुरुक्तः, नैवमर्था-
न्तरस्य वैशेषिको हेतुः प्रतिपादकोऽस्तीत्याह । नानुमानं
सांख्यस्मृतिपरिकल्पितं प्रधानम् इह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रति-
पत्तव्यम् । कस्मात् ? अतच्छब्दात् । तस्याचेतनस्य प्रधानस्य
प्रतिपादकः शब्दः तच्छब्दः, न तच्छब्दः अतच्छब्दः । न
ह्यत्राचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, ये-
नाचेतनं प्रधानं कारणत्वेनायतनत्वेन वावगम्येत । तद्विप-
रीतस्य चेतनस्य प्रतिपादकशब्दोऽत्रास्ति—‘यः सर्वज्ञः
सर्ववित्’ इत्यादिः । अत एव न वायुरपीह द्युभ्वाद्यायतन-
त्वेनाश्रीयते ॥

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

यद्यपि प्राणभृतो विज्ञानात्मन आत्मत्वं चेतनत्वं च सं-

भवति, तथाप्युपाधिपरिच्छिन्नज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाद्यसंभवे सति
अस्मादेवातच्छब्दान् प्राणभृदपि न द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्र-
यितव्यः । न चोपाधिपरिच्छिन्नस्याविभोः प्राणभृतो द्युभ्वा-
द्यायतनत्वमपि सम्यक्संभवति । पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम् ॥

कुतश्च न प्राणभृत् द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः ?—

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

भेदव्यपदेशश्चेह भवति—‘ तमेवैकं जानथ आत्मानम् ’
इति ज्ञेयज्ञातृभावेन । तत्र प्राणभृत् तावन्मुमुक्षुत्वाज्ज्ञाता ;
परिशेषादात्मशब्दवाच्यं ब्रह्म ज्ञेयं द्युभ्वाद्यायतनमिति ग-
म्यते, न प्राणभृत् ॥

कुतश्च न प्राणभृत् द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः ?—

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

प्रकरणं चेदं परमात्मनः— ‘ कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते
सर्वमिदं विज्ञातं भवति ’ इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्ष-
णात् । परमात्मनि हि सर्वात्मके विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं
स्यात्, न केवले प्राणभृति ॥

कुतश्च न प्राणभृत् द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः ?—

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

द्युभ्वाद्यायतनं च प्रकृत्य, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यत्र स्थित्यदने निर्दिश्यते; 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति कर्मफलाशनम्; 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यौदासीन्येनावस्थानम् । ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते । यदि च ईश्वरो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षितः, ततस्तस्य प्रकृतस्येश्वरस्य क्षेत्रज्ञात्पृथग्वचनमवकल्पते । अन्यथा ह्यप्रकृतवचनमाकस्मिकमसंबद्धं स्यात् । ननु तवापि क्षेत्रज्ञस्येश्वरात्पृथग्वचनमाकस्मिकमेव प्रसज्येत; न, तस्याविवक्षितत्वात् । क्षेत्रज्ञो हि कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रतिशरीरं बुद्ध्याद्युपाधिसंबद्धः, लोकत एव प्रसिद्धः, नासौ श्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यते; ईश्वरस्तु लोकतोऽप्रसिद्धत्वाच्छ्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यत इति न तस्याकस्मिकं वचनं युक्तम् । 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' इत्यत्राप्येतद्दर्शितम्—'द्वा सुपर्णा' इत्यस्यामृचि ईश्वरक्षेत्रज्ञावुच्येते इति । यदापि पैङ्गुपनिषत्कृतेन व्याख्यानेनास्यामृचि सत्त्वक्षेत्रज्ञावुच्येते, तदापि न विरोधः कश्चित् । कथम्? प्राणभृद्धीह घटादिच्छिद्रवत् सत्त्वाद्युपाध्यभिमानित्वेन प्रतिशरीरं गृह्यमाणो द्युभ्वाद्यायतनं न भवतीति

प्रतिषिध्यते । यस्तु सर्वशरीरेषूपधाधिभिर्विनोपलक्ष्यते, पर-
 एव स भवति; यथा घटादिच्छिद्राणि घटादिभिरुपाधिभि-
 र्विनोपलक्ष्यमाणानि महाकाश एव भवन्ति, तद्वत् प्राणभृतः
 परस्मादन्यत्वानुपपत्तेः प्रतिषेधो नोपपद्यते । तस्मात्सत्त्वा-
 द्युपाध्यभिमानिन एव द्युभ्वाद्यायतनत्वप्रतिषेधः । तस्मा-
 त्परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम् । तदेतत् ‘अदृश्यत्वादिगु-
 णको धर्मोक्तेः’ इत्यनेनैव सिद्धम् । तस्यैव हि भूतयो-
 निवाक्यस्य मध्ये इदं पठितम्— ‘यस्मिन्द्यौः पृथिवी
 चान्तरिक्षम्’ इति । प्रपञ्चार्थं तु पुनरुपन्यस्तम् ॥

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

इदं समामनन्ति— ‘भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति
 भूमानं भगवो विजिज्ञास इति । यत्र नान्यत्पश्यति
 २ भूमाधि- नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा ।
 करणम् । अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजा-
 नाति तदल्पम्’ इत्यादि । तत्र संशयः— किं प्राणो भूमा
 स्यात्, आहोस्वित्परमात्मेति । कुतः संशयः? भूमेति ताव-
 द्बहुत्वमभिधीयते; ‘बहोर्लोपो भू च बहोः’ इति भूमश-
 व्दस्य भावप्रत्ययान्ततास्मरणात् । किमात्मकं पुनस्तद्बहु-
 त्वमिति विशेषाकाङ्क्षायाम् ‘प्राणो वा आशाया भूयान्’ इति

संनिधानात् प्राणो भूमेति प्रतिभाति । तथा ‘श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति । सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु’ इति प्रकरणोत्थानात्परमात्मा भूमेत्यपि प्रतिभाति । तत्र कस्योपादानं न्याय्यम्, कस्य वा हानमिति भवति संशयः । किं तावत्प्राप्तम्? प्राणो भूमेति । कस्मात्? भूयःप्रश्नप्रतिवचनपरंपरादर्शनात् । यथा हि ‘अस्ति भगवो नाम्नो भूयः’ इति, ‘वाग्वाव नाम्नो भूयसी’ इति; तथा ‘अस्ति भगवो वाचो भूयः’ इति, ‘मनो वाव वाचो भूयः’ इति च— नामादिभ्यो हि आ प्राणात् भूयःप्रश्नप्रतिवचनप्रवाहः प्रवृत्तः । नैवं प्राणात्परं भूयःप्रश्नप्रतिवचनं दृश्यते—‘अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः’ इति, ‘अदो वाव प्राणाद्भूयः’ इति । प्राणमेव तु नामादिभ्य आशान्तेभ्यो भूयांसम्— ‘प्राणो वा आशाया भूयान्’ इत्यादिना सप्रपञ्चमुक्त्वा, प्राणदर्शिनश्चातिवादित्वम् ‘अतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापहुवीत’ इत्यभ्यनुज्ञाय, ‘एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति’ इति प्राणव्रतमतिवादित्वमनुकृष्य, अपरित्यज्यैव प्राणं सत्यादिपरंपरया भूमानमवतारयन्, प्राणमेव भूमानं मन्यत इति गम्यते । कथं पुनः प्राणे भूमनि व्याख्यायमाने ‘यत्र

नान्यत्पश्यति' इत्येतद्भूमनो लक्षणपरं वचनं व्याख्यायेतेति, उच्यते— सुषुप्तावस्थायां प्राणप्रस्तेषु करणेषु दर्शनादिव्यवहारनिवृत्तिदर्शनात्संभवति प्राणस्यापि 'यत्र नान्यत्पश्यतीति' एतल्लक्षणम् । तथा च श्रुतिः— 'न शृणोति न पश्यति' इत्यादिना सर्वकरणव्यापारप्रत्यस्तमयरूपां सुषुप्त्यवस्थामुक्त्वा, 'प्राणाग्रय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति' इति तस्यामेवावस्थायां पञ्चवृत्तेः प्राणस्य जागरणं ब्रुवती, प्राणप्रधानां सुषुप्त्यवस्थां दर्शयति । यच्चैतद्भूमनः सुखत्वं श्रुतम्— 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इति, तदप्यविरुद्धम्; 'अत्रैष देवः स्वप्राज्ञ पश्यत्यथ यदेतस्मिञ्शरीरे सुखं भवति' इति सुषुप्त्यवस्थायामेव सुखश्रवणात् । यच्च 'यो वै भूमा तदमृतम्' इति, तदपि प्राणस्याविरुद्धम्; 'प्राणो वा अमृतम्' इति श्रुतेः । कथं पुनः प्राणं भूमानं मन्यमानस्य 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपद्यते? प्राण एवेहात्मा विवक्षित इति ब्रूमः । तथाहि— 'प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः' इति प्राणमेव सर्वात्मानं करोति, 'यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्' इति च; सर्वात्मत्वारनाभिनिदर्शनाभ्यां च संभ-

वति वैपुल्यात्मिका भूमरूपता प्राणस्य । तस्मात्प्राणो भूमे-
त्येवं प्राप्तम् ॥

तत इदमुच्यते—परमात्मैवेह भूमा भवितुमर्हति, न
प्राणः । कस्मात्? संप्रसादादध्युपदेशात् । संप्रसाद इति सु-
षुप्तं स्थानमुच्यते; सम्यक्प्रसीदत्यास्मिन्निति निर्वचनात्,
बृहदारण्यके च स्वप्रजागरितस्थानाभ्यां सह पाठात् । तस्यां
च संप्रसादावस्थायां प्राणो जागर्तीति प्राणोऽत्र संप्रसादो-
ऽभिप्रेयते । प्राणादूर्ध्वं भूम्न उपदिश्यमानत्वादित्यर्थः । प्राण
एव चेद्भूमा स्यात्, स एव तस्मादूर्ध्वमुपदिश्येत्याश्लिष्टमेत-
त्स्यात् । न हि नामैव 'नाम्नो भूयः' इति नाम्न ऊर्ध्वमुपदि-
ष्टम्; किं तर्हि, नाम्नोऽन्यदर्थान्तरमुपदिष्टं वागाख्यम् 'वा-
ग्वाव नाम्नो भूयसी' इति । तथा वागादिभ्योऽपि आ प्राणा-
दर्थान्तरमेव तत्र तत्रोर्ध्वमुपदिष्टम् । तद्वत्प्राणादूर्ध्वमुपदिश्य-
मानो भूमा प्राणादर्थान्तरभूतो भवितुमर्हति । नन्विह ना-
स्ति प्रश्नः—'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इति; नापि प्र-
तिवचनमस्ति 'प्राणाद्वाव भूयोऽस्ति' इति; कथं प्राणाद-
धि भूमोपदिश्यत इत्युच्यते? प्राणविषयमेव चातिवादित्व-
मुत्तरत्वानुकृष्यमाणं पश्यामः—'एष तु वा अतिवदति यः
सत्येनातिवदति' इति; तस्मान्नास्ति प्राणादध्युपदेश इति;

अत्रोच्यते— न तावत्प्राणविषयस्यैवातिवादित्वस्यैतदनुकर्षण-
मिति शक्यं वक्तुम्, विशेषवादात्—‘यः सत्येनातिवदति’
इति । ननु विशेषवादोऽप्ययं प्राणविषय एव भविष्यति ; कथ-
म् ? यथा ‘एषोऽग्निहोत्री, यः सत्यं वदति’ इत्युक्ते, न सत्य-
वदनेनाग्निहोत्रित्वम् ; केन तर्हि ? अग्निहोत्रेणैव ; तत्सत्यवदनं
त्वग्निहोत्रिणो विशेष उच्यते ; तथा ‘एष तु वा अतिवदति,
यः सत्येनातिवदति’ इत्युक्ते, न सत्यवदनेनातिवादित्वम् ; केन
तर्हि ? प्रकृतेन प्राणविज्ञानेनैव ; सत्यवदनं तु प्राणविदो विशेषो
विवक्ष्यत इति—नेति ब्रूमः ; श्रुत्यर्थपरित्यागप्रसङ्गात् । श्रु-
त्या ह्यत्र सत्यवदनेनातिवादित्वं प्रतीयते—‘यः सत्येनाति-
वदति सोऽतिवदति’ इति ; नात्र प्राणविज्ञानस्य संकीर्तन-
मस्ति ; प्रकरणान्तु प्राणविज्ञानं संबध्येत ; तत्र प्रकरणानुरो-
धेन श्रुतिः परित्यक्ता स्यात् ; प्रकृतव्यावृत्त्यर्थश्च तु-शब्दो न
संगच्छेत—‘एष तु वा अतिवदति’ इति । ‘सत्यं त्वेव वि-
जिज्ञासितव्यम्’ इति च प्रयत्नान्तरकरणमर्थान्तरविवक्षां
सूचयति । तस्माद्यथैकवेदप्रशंसायां प्रकृतायाम्, ‘एष तु
महाब्राह्मणः, यश्चतुरो वेदानधीते’ इत्येकवेदेभ्योऽर्थान्तरभू-
तश्चतुर्वेदः प्रशस्यते, तादृगेतद्द्रष्टव्यम् । न च प्रश्नप्रतिवचन-
रूपयैवार्थान्तरविवक्षया भवितव्यमिति नियमोऽस्ति ; प्रकृ-

तसंबन्धासंभवकारितत्वादर्थान्तरविवक्षायाः । तत्र प्राणान्त-
मनुशासनं श्रुत्वा तूष्णींभूतं नारदं स्वयमेव सनत्कुमारो
व्युत्पादयति—यत्प्राणविज्ञानेन विकारानृतविषयेणातिवादि-
त्वमनतिवादित्वमेव तत्—‘एष तु वा अतिवदति, यः सत्ये-
नातिवदति’ इति । तत्र सत्यमिति परं ब्रह्मोच्यते, परमा-
र्थरूपत्वान्; ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इति च श्रुत्यन्तरात् ।
तथा व्युत्पातिताय नारदाय ‘सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि’
इत्येवं प्रवृत्ताय विज्ञानादिसाधनपरंपरया भूमानमुपदि-
शति । तत्र यत्प्राणादधि सत्यं वक्तव्यं प्रतिज्ञातम्, तदे-
वेह भूमेत्युच्यते इति गम्यते । तस्मादस्ति प्राणादधि भूम्न
उपदेश इति—अतः प्राणादन्यः परमात्मा भूमा भवितुमर्ह-
तीति । एवं चेहात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपन्नं भवि-
ष्यति । प्राण एवेहात्मा विवक्षित इत्येतदपि नोपपद्यते । न
हि प्राणस्य मुख्यया वृत्त्यात्मत्वमस्ति । न चान्यत्र परमात्म-
ज्ञानाच्छोकविनिवृत्तिरस्ति, ‘नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय’
इति श्रुत्यन्तरात् । ‘तं मा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु’
इति चोपक्रम्योपसंहरति—‘तस्मै मृदितकषायाय तमसः
पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः’ इति । तम इति शोका-
दिकारणमविद्योच्यते । प्राणान्ते चानुशासने न प्राणस्या-

न्यायत्ततोच्येत । ‘आत्मतः प्राणः’ इति च ब्राह्मणम् । प्रकरणान्ते परमात्मविवक्षा भविष्यति ; भूमात्र प्राण एवेति चेत्, न ; ‘स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि’ इत्यादिना भूम्न एव आ प्रकरणसमाप्तेरनुकर्षणात् । वैपुल्यात्मिका च भूमरूपता सर्वकारणत्वात्परमात्मनः सुतरामुपपद्यते ॥

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

अपि च ये भूमि श्रूयन्ते धर्माः, ते परमात्मन्युपपद्यन्ते । ‘यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा’ इति दर्शनादिव्यवहाराभावं भूमनि अवगमयति । परमात्मनि चायं दर्शनादिव्यवहाराभावोऽवगतः — ‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्’ इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । योऽप्यसौ सुषुप्त्यवस्थायां दर्शनादिव्यवहाराभाव उक्तः, सोऽप्यात्मन एवासङ्गत्वविवक्षयोक्तः, न प्राणस्वभावविवक्षया, परमात्मप्रकरणात् । यदपि तस्यामवस्थायां सुखमुक्तम्, तदप्यात्मन एव सुखरूपत्वविवक्षयोक्तम् ; यत आह— ‘एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति’ इति । इहापि ‘यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्’

इति सामयसुखनिराकरणेन ब्रह्मैव सुखं भूमानं दर्शयति ।
 ‘यो वै भूमा तदमृतम्’ इत्यमृतत्वमपीह श्रूयमाणं परम-
 कारणं गमयति; विकाराणाममृतत्वस्यापेक्षित्वान्, ‘अ-
 तोऽन्यदार्तम्’ इति च श्रुत्यन्तरान् । तथा च सत्यत्वं स्वम-
 हिमप्रतिष्ठितत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमिति चैते धर्माः श्रूय-
 माणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते, नान्यत्र । तस्माद्भूमा परमा-
 त्मेति सिद्धम् ॥

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

‘कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च पोतश्चेति स होवाचै-
 तद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु’ इत्यादि
 ३. अक्षराधि- श्रूयते । तत्र संशयः— किमक्षरशब्देन
 करणम् । वर्ण उच्यते, किं वा परमेश्वर इति । त-
 त्राक्षरसमाम्नाय इत्यादावक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वात्,
 प्रसिद्धयतिक्रम्य चायुक्तत्वात्, ‘ओंकार एवेदं सर्वम्’
 इत्यादौ च श्रुत्यन्तरे वर्णस्याप्युपास्यत्वेन सर्वात्मकत्वाव-
 धारणात्, वर्ण एवाक्षरशब्द इत्येवं प्राप्ते, उच्यते—
 पर एवात्माक्षरशब्दवाच्यः । कस्मान्? अम्बरान्तधृतेः
 पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणात् । तत्र
 हि पृथिव्यादेः समस्तविकारजातस्य कालत्रयविभक्तस्य

‘आकाश एव तदोतं च प्रोतं च’ इत्याकाशे प्रतिष्ठितत्वमुक्त्वा, ‘कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च’ इत्यनेन प्रश्नेनेदमक्षरमवतारितम्; तथा चोपसंहृतम्— ‘एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च’ इति । न चेयमम्बरान्तधृतिर्ब्रह्मणोऽन्यत्र संभवति । यदपि ‘ओंकार एवेदं सर्वम्’ इति, तदपि ब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वात्स्तुत्यर्थं द्रष्टव्यम् । तस्मिन्न क्षरति अश्नुते चेति नित्यत्वव्यापित्वाभ्यामक्षरं परमेव ब्रह्म ॥

स्यादेतत्— कार्यस्य चेतकारणाधीनत्वमम्बरान्तधृतिरभ्युपगम्यते, प्रधानकारणवादिनोऽपीयमुपपद्यते; कथमम्बरान्तधृतेर्ब्रह्मत्वप्रतिपत्तिरिति ? अत उत्तरं पठति—

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

सा च अम्बरान्तधृतिः परमेश्वरस्यैव कर्म । कस्मात् ? प्रशासनात् । प्रशासनं हीह श्रूयते— ‘एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः’ इत्यादि । प्रशासनं च पारमेश्वरं कर्म; न अचेतनस्य प्रशासनं भवति । न ह्यचेतनानां घटादिकारणानां मृदादीनां घटादिविषयं प्रशासनमस्ति ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च कारणाद्ब्रह्मैवाक्षरशब्दवाच्यम्, तस्यै-
 वास्वरान्तधृतिः कर्म, नान्यस्य कस्यचित् । किमिदम् अन्य-
 भावव्यावृत्तेरिति ? अन्यस्य भावोऽन्यभावः तस्माद्ब्राह्मवृत्तिः
 अन्यभावव्यावृत्तिरिति तस्याः । एतदुक्तं भवति—यदन्यद्ब्र-
 ह्मणोऽक्षरशब्दवाच्यमिहाशङ्क्यते तद्भावात् इदमस्वरान्तवि-
 धारणमक्षरं व्यावर्तयति श्रुतिः— ‘तद्वा एतदक्षरं गार्गी
 अहृष्टं द्रष्टुं अश्रुतं श्रोतुं अमृतं मन्तुं अविज्ञातं विज्ञातुं’
 इति । तद्वाद्दृष्ट्वादिव्यपदेशः प्रधानस्यापि संभवति ; द्रष्टृत्वा-
 दिव्यपदेशस्तु न तस्य संभवति, अचेतनत्वात् । तथा ‘नान्य-
 दतोऽस्ति द्रष्टुं, नान्यदतोऽस्ति श्रोतुं, नान्यदतोऽस्ति मन्तुं,
 नान्यदतोऽस्ति विज्ञातुं’ इत्यात्मभेदप्रतिषेधात्, न शारीर-
 स्याप्युपाधिमतोऽक्षरशब्दवाच्यत्वम् ; ‘अचक्षुष्कमश्रोत्रम-
 वागमनः’ इति चोपाधिमत्ताप्रतिषेधात् । न हि निरु-
 पाधिकः शारीरो नाम भवति । तस्मात्परमेव ब्रह्माक्षरमिति
 निश्चयः ॥

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥ १३ ॥

‘एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोकारस्तस्माद्वि-
 द्वातेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति’ इति प्रकृत्य श्रूयते—‘यः

पुनरेतं विमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत’
 ४. ईक्षतिकर्मा- इति । किमस्मिन्वाक्ये परं ब्रह्माभिध्यात-
 धिकरणम् । व्यमुपदिश्यते, आहोस्विदपरमिति । एतेनै-
 वायतनेन परमपरं वैकतरमन्वेतीति प्रकृतत्वात्संशयः । त-
 त्रापरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम् । कस्मान् ? ‘ स तेजसि सूर्ये सं-
 पन्नः’ ‘ स सामभिरुन्नयिते ब्रह्मलोकम्’ इति च तद्विदो
 देशपरिच्छिन्नस्य फलस्योच्यमानत्वात् । न हि परब्रह्मविदे-
 शपरिच्छिन्नं फलमश्नुवीतेति युक्तम् ; सर्वगतत्वात्परस्य ब्र-
 ह्मणः । नन्वपरब्रह्मपरिग्रहे ‘ परं पुरुषम्’ इति विशेषणं
 नोपपद्यते । नैष दोषः—पिण्डापेक्षया प्राणस्य परत्वोपपत्तेः ;
 इत्येवं प्राप्ते, अभिधीयते ॥

परमेव ब्रह्म इह अभिध्यातव्यमुपदिश्यते । कस्मान् ? ईक्ष-
 तिकर्मव्यपदेशान् ; ईक्षतिर्दर्शनम् ; दर्शनव्याप्यमीक्षतिकर्म ;
 ईक्षतिकर्मत्वेनास्याभिध्यातव्यस्य पुरुषस्य वाक्यशेषे व्यप-
 देशो भवति— ‘ स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पु-
 रुषमीक्षते’ इति । तत्र अभिध्यायतेरतथाभूतमपि वस्तु क-
 र्म भवति, मनोरथकल्पितस्याप्यभिध्यायतिकर्मत्वात् ; ईक्ष-
 तेस्तु तथाभूतमेव वस्तु लोके कर्म दृष्टम्, इत्यतः परमा-
 त्मैवायं सम्यग्दर्शनविषयभूत ईक्षतिकर्मत्वेन व्यपदिष्ट इति

गम्यते । स एव चेह परपुरुषशब्दाभ्यामभिध्यातव्यः प्रत्यभिज्ञायते । नन्वभिध्याने परः पुरुष उक्तः, ईक्षणे तु परात्परः; कथमितर इतरत्र प्रत्यभिज्ञायत इति, अत्रोच्यते—परपुरुषशब्दौ तावदुभयत्र साधारणौ । न चात्र जीवघनशब्देन प्रकृतोऽभिध्यातव्यः परः पुरुषः परामृश्यते; येन तस्मात् परात्परोऽयमीक्षितव्यः पुरुषोऽन्यः स्यात् । कस्तर्हि जीवघन इति, उच्यते—घनो मूर्तिः, जीवलक्षणां घनः जीवघनः । सैन्धवखिल्यवत् यः परमात्मनो जीवरूपः खिल्यभाव उपाधिकृतः, परश्च विषयेन्द्रियेभ्यः, सोऽत्र जीवघन इति । अपर आह—‘सं सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्’ इत्यतीतानन्तरवाक्यनिर्दिष्टो यो ब्रह्मलोकः परश्च लोकान्तरेभ्यः, सोऽत्र जीवघन इत्युच्यते । जीवानां हि सर्वेषां करणपरिवृतानां सर्वकरणात्मनि हिरण्यगर्भे ब्रह्मलोकनिवासिनि संघातोपपत्तेर्भवति ब्रह्मलोको जीवघनः । तस्मात्परो यः पुरुषः परमात्मा ईक्षणकर्मभूतः, स एवाभिध्यानेऽपि कर्मभूत इति गम्यते । ‘परं पुरुषम्’ इति च विशेषणं परमात्मपरिग्रह एवावकल्पते । परो हि पुरुषः परमात्मैव भवति यस्मात्परं किंचिदन्यन्नास्ति; ‘पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः’ इति च श्रुत्यन्तरात् । ‘परं चापरं

च ब्रह्म यदोकारः' इति च विभज्य, अनन्तरमोकारेण परं पुरुषमभिध्यातव्यं ब्रुवन्, परमेव ब्रह्म परं पुरुषं गमयति । 'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुच्यते' इति पाप्मविनिर्मोक्तफलवचनं परमात्मानमिहाभिध्यातव्यं सूचयति । अथ यदुक्तं परमात्माभिध्यायिनो न देशपरिच्छिन्नं फलं युज्यते इति, अबोच्यते— त्रिमात्रेणोकारेणालम्बनेन परमात्मानमभिध्यायतः फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिः, क्रमेण च सम्यग्दर्शनोत्पत्तिः,— इति क्रममुक्त्यभिप्रायमेतद्भविष्यतीत्यदोषः ॥

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेदम दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञा-

५. दहराधि- सितव्यम्' इत्यादि वाक्यं समाप्नायते ।
करणम् । तत्र योऽयं दहरे हृदयपुण्डरीके दहर

आकाशः श्रुतः, स किं भूताकाशः, अथ विज्ञानात्मा, अथवा परमात्मेति संशय्यते । कुतः संशयः ? आकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम् । आकाशशब्दो ह्ययं भूताकाशे परस्मिंश्च ब्रह्मणि प्रयुज्यमानो दृश्यते । तत्र किं भूताकाश एव दहरः स्यात्, किं वा पर इति संशयः । तथा ब्रह्मपुरमिति— किं जीवो-

ऽत्र ब्रह्मनामा, तस्येदं पुरं शरीरं ब्रह्मपुरम्, अथवा परस्यैव ब्रह्मणः पुरं ब्रह्मपुरमिति । तत्र जीवस्य परस्य वान्यतरस्य पुरस्वामिनो दहराकाशत्वे संशयः । तत्राकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वाद्भूताकाश एव दहरशब्द इति प्राप्तम्; तस्य च दहरायतनापेक्षया दहरत्वम्; 'आवान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति च बाह्याभ्यन्तरभावकृतभेदस्योपमानोपमेयभावः; द्यावापृथिव्यादि च तस्मिन्नन्तःसमाहितम्, अवकाशात्मनाकाशस्यैकत्वात् । अथवा जीवो दहर इति प्राप्तम्, ब्रह्मपुरशब्दात्; जीवस्य हृदं पुरं सत् शरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते, तस्य स्वकर्मणोपार्जितत्वात्; भक्त्या च तस्य ब्रह्मशब्दव्यवच्यत्वम्; न हि परस्य ब्रह्मणः शरीरेण स्वस्वामिभावः संबन्धोऽस्ति; तत्र पुरस्वामिनः पुरैकदेशेऽवस्थानं दृष्टम्, यथा राज्ञः; मनउपाधिकश्च जीवः; मनश्च प्रायेण हृदये प्रतिष्ठितम्— इत्यतो जीवस्यैवेदं हृदयान्तरवस्थानं स्यात्; दहरत्वमपि तस्यैव आराग्रोपमितत्वात् अवकल्पते; आकाशोपमितत्वादि च ब्रह्माभेदविवक्षया भविष्यति; न चाल दहरस्याकाशस्यान्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रूयते; 'तस्मिन्यदन्तः' इति परविशेषणत्वेनोपादानादिति ॥

अत उत्तरं ब्रूमः— परमेश्वर एवात्र दहराकाशो भवितुमर्हति, न भूताकाशो जीवो वा । कस्मात्? उत्तरेभ्यः वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः । तथाहि— अन्वेष्टव्यतयाभिहितस्य दहराकाशस्य ‘तं चेद्भूयुः’ इत्युपक्रम्य ‘किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्’ इत्येवमाक्षेपपूर्वकं प्रतिसमाधानवचनं भवति— ‘स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावा-पृथिवी अन्तरेव समाहिते’ इत्यादि । तत्र पुण्डरीकदहरत्वेन प्राप्तदहरत्वस्याकाशस्य प्रसिद्धाकाशौपम्येन दहरत्वं निवर्तयन् भूताकाशत्वं दहरस्याकाशस्य निवर्तयतीति गम्यते । यद्यप्याकाशशब्दो भूताकाशे रूढः, तथापि तेनैव तस्योपमानोपपद्यत इति भूताकाशशब्दा निवर्तिता भवति । नन्वेकस्याप्याकाशस्य बाह्याभ्यन्तरत्वकल्पितेन भेदेनोपमानोपमेयभावः संभवतीत्युक्तम्; नैवं संभवति; अगतिका हीयं गतिः, यत्काल्पनिकभेदाश्रयणम् । अपि च कल्पयित्वा भेदमुपमानोपमेयभावं वर्णयतः परिच्छिन्नत्वादभ्यन्तराकाशस्य न बाह्याकाशपरिमाणत्वमुपपद्येत । ननु परमेश्वरस्यापि ‘ज्यायानाकाशान्’ इति श्रुत्यन्तरात् नैवाकाशपरिमाणत्वमुपपद्यते; नैष दोषः; पुण्डरीकवेष्टनप्राप्तदहरत्वनिवृ-

त्तिपरत्वाद्वाक्यस्य न तावत्त्वप्रतिपादनपरत्वम्; उभयप्रति-
 पादने हि वाक्यं भिद्येत । न च कल्पितभेदे पुण्डरीकवेष्णित
 आकाशैकदेशे द्यावापृथिव्यादीनामन्तः समाधानमुपपद्यते ।
 'एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सो-
 ऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति चात्मत्वापहत-
 पाप्मत्वादयश्च गुणा न भूताकाशे संभवन्ति । यद्यप्यात्म-
 शब्दो जीवे संभवति, तथापीतरेभ्यः कारणेभ्यो जीवा-
 शङ्कापि निवर्तिता भवति । न ह्युपाधिपरिच्छिन्नस्यारात्रो-
 पमितस्य जीवस्य पुण्डरीकवेष्णनकृतं दहरत्वं शक्यं निव-
 र्तयितुम् । ब्रह्माभेदविवक्षया जीवस्य सर्वगतत्वादि विव-
 क्ष्येतेति चेत्; यदात्मतया जीवस्य सर्वगतत्वादि विव-
 क्ष्येत, तस्यैव ब्रह्मणः साक्षात्सर्वगतत्वादि विवक्ष्यतामिति
 युक्तम् । यद्युक्तम्— 'ब्रह्मपुरम्' इति जीवेन पुरस्योप-
 लक्षितत्वाद्वाज्ञ इव जीवस्यैवेदं पुरस्वामिनः पुरैकदेशवर्ति-
 त्वमस्त्विति; अत्र ब्रूमः—परस्यैवेदं ब्रह्मणः पुरं सत् शरीरं
 ब्रह्मपुरमित्युच्यते, ब्रह्मशब्दस्य तस्मिन्मुख्यत्वान् । तस्या-
 प्यस्ति पुरेणानेन संबन्धः, उपलब्ध्यधिष्ठानत्वान्— 'स
 एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' 'स वा
 अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

अथवा जीवपुर एवास्मिन् ब्रह्म संनिहितमुपलक्ष्यते, यथा सालप्रामे विष्णुः संनिहित इति, तद्वत् । ‘तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते’ इति च कर्मणामन्तवत्फलत्वमुक्त्वा, ‘अथ य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति’ इति प्रकृतदहराकाशविज्ञानस्यानन्तफलत्वं वदन्, परमात्मत्वमस्य सूचयति । यदप्येतदुक्तम्—
 न दहरस्याकाशस्यान्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रुतं परविशेषणत्वेनोपादानादिति ; अत्र ब्रूमः—यद्याकाशो नान्वेष्टव्यत्वेनोक्तः स्यात् ‘यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः’ इत्याद्याकाशस्वरूपप्रदर्शनं नोपपद्येत । नन्वेतदप्यन्तर्बर्तिवस्तुसद्भावदर्शनायैव प्रदर्श्यते, ‘तं चेद्भूर्युयदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वा विजिज्ञासितव्यम्’ इत्याक्षिप्य परिहारावसरे आकाशौपम्योपक्रमेण द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाहितत्वप्रदर्शनात् ; नैतदेवम् ; एवं हि सति यदन्तः समाहितं द्यावापृथिव्यादि, तदन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं चोक्तं स्यात् ; तत्र वाक्यशेषो नोपपद्येत ; ‘अस्मिन्कामाः समाहिताः’ ‘एष आत्माप-

हृत्पाप्मा' इति हि प्रकृतं यावापृथिव्यादिसमाधानाधारमाकाशमाकृष्य 'अथ य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्येतांश्च सत्यान्कामान्' इति समुच्चयार्थेन च-शब्देनात्मानं कामाधारम् आश्रितांश्च कामान् विज्ञेयान् वाक्यशेषो दर्शयति । तस्माद्वाक्योपक्रमेऽपि दहर एवाकाशो हृदयपुण्डरीकाधिष्ठानः सहान्तःस्थैः समाहितैः पृथिव्यादिभिः सत्यैश्च कामैर्विज्ञेय उक्त इति गम्यते । स चोक्तेभ्यो हेतुभ्यः परमेश्वर इति स्थितम् ॥

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

दहरः परमेश्वर उत्तरेभ्यो हेतुभ्य इत्युक्तम् ; त एवोत्तरे हेतव इदानीं प्रपञ्चयन्ते । इतश्च परमेश्वर एव दहरः ; यस्माद्दहरवाक्यशेषे परमेश्वरस्यैव प्रतिपादकौ गतिशब्दौ भवतः—'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' इति । तत्र प्रकृतं दहरं ब्रह्मलोकशब्देनाभिधाय तद्विषया गतिः प्रजाशब्दवाच्यानां जीवानामभिधीयमाना दहरस्य ब्रह्मतां गमयति । तथा ह्यहरहर्जीवानां सुषुप्तावस्थायां ब्रह्मविषयं गमनं दृष्टं श्रुत्यन्तरे—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' इत्येवमादौ । लोकेऽपि किल गाढं सु-

धुप्रमाचक्षते 'ब्रह्मीभूतो ब्रह्मतां गतः' इति । तथा ब्रह्मलो-
कशब्दोऽपि प्रकृते दहरे प्रयुज्यमानो जीवभूताकाशाशङ्कां
निवर्तयन्ब्रह्मतामस्थ गमयति । ननु कमलासनलोकमपि ब्र-
ह्मलोकशब्दो गमयेत् ; गमयेद्यदि ब्रह्मणो लोक इति षष्ठी-
समासवृत्त्या व्युत्पाद्येत ; सामानाधिकरण्यवृत्त्या तु व्युत्पा-
द्यमानो ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति परमेव ब्रह्म गमयिष्य-
ति । एतदेव चाहरहर्ब्रह्मलोकगमनं दृष्टं ब्रह्मलोकशब्दस्य
सामानाधिकरण्यवृत्तिपरिग्रहे लिङ्गम् । न ह्यहरहरिमाः प्र-
जाः कार्यब्रह्मलोकं सत्यलोकाख्यं गच्छन्तीति शक्यं कल्प-
यितुम् ॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं दहरः । कथम् ? 'दहरो-
ऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति हि प्रकृत्य आकाशौपम्यपूर्वकं तस्मि-
न्सर्वसमाधानमुक्त्वा तस्मिन्नेव चात्मशब्दं प्रयुज्यापहतपा-
प्मत्वादिगुणयोगं चोपदिश्य तमेवानतिवृत्तप्रकरणं निर्दिश-
ति—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभे-
दाय' इति । तत्र विधृतिरित्यात्मशब्दसामानाधिकरण्या-
द्विधारयितोच्यते ; क्विचः कर्तरि स्मरणात् । यथोदकसंता-
नस्य विधारयिता लोके सेतुः क्षेत्रसंपदामसंभेदाय, एवम-

यमात्मा एषामध्यात्मादिभेदभिन्नानां लोकानां वर्णाश्रमादी-
नां च विधारयिता सेतुः, असंभेदाय असंकरायेति । एवमिह
प्रकृते दहरे विधरणलक्षणं महिमानं दर्शयति । अयं च महिमा
परमेश्वर एव श्रुत्यन्तरादुपलभ्यते—‘ एतस्य वा अक्षरस्य
प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ’ इत्यादेः ।
तथान्यत्रापि निश्चिते परमेश्वरवाक्ये श्रूयते—‘ एष सर्वेश्वर
एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोका-
नामसंभेदाय ’ इति । एवं धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं
दहरः ॥

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

इतश्च परमेश्वर एव ‘ दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः ’ इत्यु-
च्यते; यत्कारणमाकाशशब्दः परमेश्वरे प्रसिद्धः— ‘ आ-
काशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ’ ‘ सर्वाणि ह वा इमानि
भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते ’ इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । जीवे
तु न कचिदाकाशशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते । भूताकाशस्तु
सत्यामप्याकाशशब्दप्रसिद्धौ उपमानोपमेयभावाद्यसंभवात्
प्रहीतव्य इत्युक्तम् ॥

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासं-
भवात् ॥ १८ ॥

यदि वाक्यशेषबलेन दहर इति परमेश्वरः परिगृह्येत, अस्ति हीतरस्यापि जीवस्य वाक्यशेषे परामर्शः— ‘अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच’ इति; अत्र हि संप्रसादशब्दः श्रुत्यन्तरे सुषुप्तावस्थायां दृष्टत्वादवस्थावन्तं जीवं शक्नोत्युपस्थापयितुम्, नार्थान्तरम्; तथा शरीरव्यपाश्रयस्यैव जीवस्य शरीरात्समुत्थानं संभवति, यथाकाशव्यपाश्रयाणां वाय्वादीनामाकाशात्समुत्थानम्, तद्वन्; यथा चादृष्टोऽपि लोके परमेश्वरविषय आकाशशब्दः परमेश्वरधर्मसमभिव्याहारात् ‘आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता’ इत्येवमादौ परमेश्वरविषयोऽभ्युपगतः, एवं जीवविषयोऽपि भविष्यति; तस्मादितरपरामर्शात् ‘दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः’ इत्यत्र स एव जीव उच्यते इति चेत्— नैतदेवं स्यात्; कस्मात्? असंभवात् । न हि जीवो बुद्ध्याद्युपाधिपरिच्छेदाभिमान्नी सन् आकाशेनोपमीयेत । न चोपाधिधर्मानभिमन्यमानस्यापहतपाप्मत्वादयो धर्माः संभवन्ति । प्रपञ्चितं चैतत्प्रथमे सूत्रे । अतिरेकाशङ्कापरिहाराय अत्र तु पुनरुपन्यस्तम् । षष्ठिष्यति चोपरिष्ठान्—‘अन्यार्थश्च परामर्शः’ इति ॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

इतरपरामर्शाद्या जीवाशङ्का जाता, सा असंभवान्निराकृता ।
 अथेदानीं मृतस्येवामृतसेकात् पुनः समुत्थानं जीवाशङ्कायाः
 क्रियते— उत्तरस्मात्प्राजापत्याद्वाक्यात् । तत्र हि ‘य
 आत्मापहतपाप्मा’ इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानमन्वेष्ट-
 व्यं विजिज्ञासितव्यं च प्रतिज्ञाय, ‘य एषोऽक्षिणि पुरुषो
 हृदयत एष आत्मा’ इति ब्रुवन अक्षिस्थं द्रष्टारं जीवमा-
 त्मानं निर्दिशति । ‘एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि’ इति
 च तमेव पुनः पुनः परामृश्य, ‘य एष स्वप्ने महीयमानश्च-
 रत्येष आत्मा’ इति ‘तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न
 विजानात्येष आत्मा’ इति च जीवमेवावस्थान्तरगतं व्या-
 चष्टे । तस्यैव चापहतपाप्मत्वादि दर्शयति— ‘एतदमृत-
 मभयमेतद्ब्रह्म’ इति । ‘नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं
 जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि’ इति च सुषुप्ता-
 वस्थायां दोषमुपलभ्य, ‘एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि
 नो एवान्यत्रैतस्मान्’ इति चोपक्रम्य, शरीरसंबन्धनिन्दापू-
 र्वकम् ‘एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरू-
 पसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः’ इति
 जीवमेव शरीरात्समुत्थितमुत्तमं पुरुषं दर्शयति । तस्मादस्ति

संभवो जीवे पारमेश्वराणां धर्माणाम् । अतः ‘दहरोऽस्मि-
 नन्तराकाशः’ इति जीव एवोक्त इति चेत्कश्चिद्भूयात् ; तं
 प्रति ब्रूयान्—‘आविर्भूतस्वरूपस्तु’ इति । तु-शब्दः पूर्वपक्ष-
 व्यावृत्त्यर्थः ; नोत्तरस्मादपि वाक्यादिह जीवस्याशङ्का सं-
 भवतीत्यर्थः । कस्मान् ? यतस्तत्राप्याविर्भूतस्वरूपो जीवो
 विवक्ष्यते । आविर्भूतं स्वरूपमस्येत्याविर्भूतस्वरूपः ; भूतपूर्व-
 गत्या जीववचनम् । एतदुक्तं भवति— ‘य एषोऽक्षिणि’
 इत्यक्षिलक्षितं द्रष्टारं निर्दिश्य, उदशरावब्राह्मणेन एनं शरीरा-
 त्मतया व्युत्थाप्य, ‘एतं त्वेव ते’ इति पुनः पुनस्तमेव
 व्याख्येयत्वेनाकृष्य, स्वप्रसुषुप्तोपन्यासक्रमेण ‘परं ज्योति-
 रूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते’ इति यदस्य पारमा-
 र्थिकं स्वरूपं परं ब्रह्म, तद्रूपतयैतं जीवं व्याचष्टे ; न जैवेन
 रूपेण । यत्तन् परं ज्योतिरूपसंपत्तव्यं श्रुतम्, तत्परं ब्रह्म ;
 तच्चापहतपाप्मत्वादिधर्मकम् ; तदेव च जीवस्य पारमार्थिकं
 स्वरूपम्—‘तत्त्वमसि’ इत्यादिशास्त्रेभ्यः ; नेतरदुपाधिक-
 ल्पितम् । यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणाभिवर्णां
 निवर्तयन्कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानम् ‘अहं ब्रह्मस्मि’ इति
 न प्रतिपद्यते, तावज्जीवस्य जीवत्वम् । यदा तु देहेन्द्रियमनोबु-
 द्धिसंघाताद्बुद्ध्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते नासि त्वं देहेन्द्रियम-

नोबुद्धिसंघातः; नापि संसारी, किं तर्हि तद्यत्सत्यं स आ-
 त्माः चैतन्यमात्रस्वरूपस्तत्त्वमसीति; तदा कूटस्थनित्यदृ-
 क्स्वरूपमात्मानं प्रतिबुध्य अस्माच्छरीराद्यभिमानात्समुत्ति-
 ष्टन स एव कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति—‘स यो
 ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति’ इत्यादिश्रुतिभ्यः ।
 तदेव चास्य पारमार्थिकं स्वरूपम्, येन शरीरात्समुत्थाय
 स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । कथं पुनः स्वं च रूपं स्वेनैव च
 निष्पद्यत इति संभवति कूटस्थनित्यस्य ? सुवर्णादीनां तु द्रव्या-
 न्तरसंपर्कादिभिभूतस्वरूपाणामनभिव्यक्तासाधारणविशेषाणां
 क्षारप्रक्षेपादिभिः शोध्यमानानां स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्या-
 त्; तथा नक्षत्रादीनामहन्यभिभूतप्रकाशानामभिभावकवियो-
 गे रात्रौ स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात्; न तु तथात्मचैतन्य-
 ज्योतिषो नित्यस्य केनचिदभिभवः संभवति असंसर्गित्वा-
 त व्योम्न इव, दृष्टविरोधाच्च; दृष्टिश्रुतिमतिविज्ञातयो हि
 जीवस्य स्वरूपम्; तच्च शरीरादसमुत्थितस्यापि जीवस्य सदा
 निष्पन्नमेव दृश्यते; सर्वो हि जीवः पश्यन् शृण्वन् मन्वान-
 नो विजानन्व्यवहरति, अन्यथा व्यवहारानुपपत्तेः; तच्चेत्
 शरीरात्समुत्थितस्य निष्पद्येत, प्राक्समुत्थानाद्दृष्टो व्यवहा-
 रो विरुध्येत्; अतः किमात्मकमिदं शरीरात्समुत्थानम्, कि-

मात्मिका वा स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरिति ; अत्रोच्यते—प्रा-
 ग्विवेकविज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधि-
 भिरविविक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादिज्योतिःस्वरूपं भवति ;
 यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्वाच्छयं शौक्ल्यं च स्वरूपं प्रा-
 ग्विवेकग्रहणाद्रक्तनीलाद्युपाधिभिरविविक्तमिव भवति ; प्रमा-
 णजनितविवेकग्रहणात्तु पराचीनः स्फटिकः स्वाच्छयेन शौ-
 क्येन च स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते प्रागपि तथैव स-
 न् ; तथा देहाद्युपाध्यविविक्तस्यैव सतो जीवस्य श्रुतिकृतं विवे-
 कविज्ञानं शरीरात्समुत्थानम्, विवेकविज्ञानफलं स्वरूपेणाभि-
 निष्पत्तिः केवलात्मस्वरूपावगतिः । तथा विवेकाविवेकमात्रेणै-
 वात्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च मन्त्रवर्णात् ‘अशरीरं शरीरे-
 षु, इति, ‘शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते’ इति
 च सशरीरत्वाशरीरत्वविशेषाभावस्मरणात् । तस्माद्विवेक-
 विज्ञानाभावादनाविर्भूतस्वरूपः सन् विवेकविज्ञानादाविर्भू-
 तस्वरूप इत्युच्यते । न त्वन्यादृशौ आविर्भावानाविर्भावौ
 स्वरूपस्य संभवतः, स्वरूपत्वादेव । एवं मिथ्याज्ञानकृत एव
 जीवपरमेश्वरयोर्भेदः, न वस्तुकृतः ; व्योमवदसङ्गत्वाविशे-
 षात् । कुतश्चैतदेवं प्रतिपत्तव्यम् ? यतः ‘य एषोऽक्षिणि
 पुरुषो दृश्यते’ इत्युपदिश्य ‘एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म’ इत्यु-

पदिशति । योऽक्षिणिः प्रसिद्धो द्रष्टा द्रष्टृत्वेन विभाव्यते, सोऽमृताभयलक्षणाद्ब्रह्मणोऽन्यश्चेत्स्यात्, ततोऽमृताभयब्रह्मसामानाधिकरण्यं न स्यात् । नापि प्रतिच्छायात्मायमक्षिलक्षितो निर्दिश्यते, प्रजापतेर्मृषावादित्वप्रसङ्गान् । तथा द्वितीयेऽपि पर्याये 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति' इति न प्रथमपर्यायनिर्दिष्टादक्षिपुरुषाद्द्रष्टुरन्यो निर्दिष्टः, 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इत्युपक्रमात् । किंच 'अहमद्य स्वप्ने हस्तिनमद्राक्षम्, नेदानीं तं पश्यामि' इति दृष्टमेव प्रतिबुद्धः प्रत्याचष्टे । द्रष्टारं तु तमेव प्रत्यभिजानाति — 'य एवाहं स्वप्नमद्राक्षम्, स एवाहं जागरितं पश्यामि' इति । तथा तृतीयेऽपि पर्याये— 'नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्यमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' इति सुषुप्तावस्थायां विशेषविज्ञानाभावमेव दर्शयति, न विज्ञातारं प्रतिषेधति । यत्तु तत्र 'विनाशमेवापीतो भवति' इति, तदपि विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेव, न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम् ; 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इति श्रुत्यन्तरात् । तथा चतुर्थेऽपि पर्याये 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इत्युपक्रम्य 'मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरम्' इत्या-

दिना प्रपञ्चेन शरीराद्युपाधिसंबन्धप्रत्याख्यानेन संप्रसादश-
 च्छेदितं जीवम् 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति ब्रह्मस्वरूपा-
 पञ्चं दर्शयन्, न परस्माद्ब्रह्मणोऽमृताभयस्वरूपादन्यं जीवं
 दर्शयति । केचित्तु परमात्मविवक्षायाम् 'एतं त्वेव ते' इति
 जीवाकर्षणमन्याग्र्यं मन्यमाना एतमेव वाक्योपक्रमसूचि-
 तमपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानं ते भूयोऽनुव्याख्याम्यामी-
 नि कल्पयन्ति । तेषाम् 'एतम्' इति संनिहितावलम्बिनी
 सर्वनामश्रुतिर्विप्रकृत्येत ; भूयःश्रुतिश्चोपरुद्ध्येत ; पर्यायान्तरा-
 भिहितस्य पर्यायान्तरेणानभिधीयमानत्वान् । 'एतं त्वेव ते'
 इति च प्रतिज्ञाय प्राक्चतुर्थ्यात्पर्यायादन्यमन्यं व्याचक्षाणस्य
 प्रजापतेः प्रतारकत्वं प्रसज्येत । तस्मान् यद्विद्याप्रत्युपस्था-
 पितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृत्वभोक्तृत्वरारागद्वेषादिदोष-
 कलुषितमनेकानर्थयोगि, तद्विलयनेन तद्विपरीतमपहतपाप्म-
 त्वादिगुणकं पारमेश्वरं स्वरूपं विद्याया प्रतिपद्यते, सर्पादि-
 विलयनेनेव रज्ज्वादीन् । अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव
 जैवं रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचिन् । तेषां सर्वेषामा-
 त्मैकत्वमभ्यर्गदर्शनप्रतिपक्षभूतानां प्रतिषेधायेदं शारीरक-
 मारब्धम्— एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधा-
 तुरविद्याया, मायया मायाविवन्, अनेकधा विभाव्यते, ना-

न्यो विज्ञानधातुरस्तीति । यत्त्विदं परमेश्वरवाक्ये जीवमा-
 शङ्क्य प्रतिषेधति सूत्रकारः— ‘नासंभवात्’ इत्यादिना,
 तत्रायमभिप्रायः— नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये
 एकस्मिन्नसङ्गे परमात्मनि तद्विपरीतं जैवं रूपं व्योम्नीव तल-
 मलादि परिकल्पितम् ; तत् आत्मैकत्वप्रतिपादनपरैर्वाक्यै-
 र्न्यायोपेतैर्द्वैतवादप्रतिषेधैश्चापनेष्यामीति— परमात्मनो जी-
 वादन्यत्वं द्रढयति ; जीवस्य तु न परस्मादन्यत्वं प्रतिपिपाद-
 यिषति ; किं त्वनुवदत्येवाविद्याकल्पितं लोकप्रसिद्धं जीव-
 भेदम् ; एवं हि स्वाभाविककर्तृत्वभोक्तृत्वानुवादेन प्रवृत्ताः
 कर्मविधयो न विरुध्यन्त इति मन्यते । प्रतिपाद्यं तु शास्त्रा-
 र्थमात्मैकत्वमेव दर्शयति— ‘शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदे-
 ववत्’ इत्यादिना । वर्णितश्चास्माभिः विद्वद्विद्वद्भेदेन कर्म-
 विधिविरोधपरिहारः ॥

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

अथ यांऽयं दहरवाक्यशेषे जीवपरामर्शो दर्शितः—‘अथ
 य एष संप्रसादः’ इत्यादिः, स दहरे परमेश्वरे व्याख्याय-
 माने, न जीवोपासनोपदेशः, नापि प्रकृतविशेषोपदेशः—इ-
 त्यनर्थकत्वं प्राप्नोतीत्यत आह— अन्यार्थोऽयं जीवपरामर्शो
 न जीवस्वरूपपर्यवसायी ; किं तर्हि, परमेश्वरस्वरूपपर्यवसा-

यी । कथम् ? संप्रसादशब्दोदितो जीवो जागरितव्यवहारे देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षो भूत्वा, तद्वासनानिर्भितांश्च स्वप्नान्नाडी-चरोऽनुभूय, श्रान्तः शरणं प्रेप्सुरुभयरूपादपि शरीराभि-मानात्समुत्थाय, सुषुप्तावस्थायां परं ज्योतिराकाशशब्दितं परं ब्रह्मोपसंपद्य, विशेषविज्ञानवत्त्वं च परित्यज्य, स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते; यदस्योपसंपत्तव्यं परं ज्योतिः, येन स्वेन रूपेणायमभिनिष्पद्यते, स एष आत्मापहतपाप्मत्वादि-गुण उपास्यः— इत्येवमर्थोऽयं जीवपरामर्शः परमेश्वरवा-दिनोऽप्युपपद्यते ॥

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

यदप्युक्तम्—‘दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः’ इत्याकाशस्याल्प-त्वं श्रूयमाणं परमेश्वरे नोपपद्यते, जीवस्य तु आराग्रोपमि-तस्याल्पत्वमवकल्पत इति; तस्य परिहारो वक्तव्यः । उक्तो ह्यस्य परिहारः—परमेश्वरेऽप्यापेक्षिकमल्पत्वमवकल्पत इति, ‘अर्भकौकस्तात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाग्यत्वादेवं व्यो-मवच्च’ इत्यत्र; स एवेह परिहारोऽनुसंधातव्य इति सूच-यति । श्रुत्यैव च इदमल्पत्वं प्रत्युक्तं प्रसिद्धेनाकाशेनोपमि-मानया ‘यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः’ इति ॥

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

‘न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा

६. अनुकृत्य- सर्वमिदं विभाति’ इति समामनन्ति ।

धिकरणम् । तत्र यं भान्तमनुभाति सर्वं यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति, स किं तेजोधातुः कश्चिन्, उत प्राज्ञ आत्मेति विचिकित्सायां तेजोधातुरिति तावत्प्राप्तम् । कुतः ? तेजोधातूनामेव सूर्यादीनां भानप्रतिषेधात् । तेजःस्वभावकं हि चन्द्रतारकादि तेजःस्वभावक एव सूर्ये भासमाने अहनि न भासत इति प्रसिद्धम् । तथा सह सूर्येण सर्वमिदं चन्द्रतारकादि यस्मिन्न भासते, सोऽपि तेजःस्वभाव एव कश्चिदित्यवगम्यते । अनुभानमपि तेजःस्वभावक एवोपपद्यते, समानस्वभावकेष्वनुकारदर्शनात्; ‘गच्छन्तमनुगच्छति’ इति-वन् । तस्मात्तेजोधातुः कश्चिदित्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः— प्राज्ञ एवायमात्मा भवितुमर्हति । कस्मात् ? अनुकृते; अनुकरणमनुकृतिः; यदेतत् ‘तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्’ इत्यनुभानम्, तत्प्राज्ञपरिग्रहेऽवकल्पते; ‘भारूपः सत्यसंकल्पः’ इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति; न तु तेजोधातुं कञ्चित्सूर्यादयोऽनुभान्तीति प्रसिद्धम्;

समत्वाच्च तेजोधातूनां सूर्यादीनां न तेजोधातुमन्यं प्रत्य-
 पेक्षास्ति, यं भान्तमनुभायुः; न हि प्रदीपः प्रदीपान्त-
 रमनुभाति । यदप्युक्तं समानस्वभावकेष्वनुकारो दृश्यत
 इति— नायमेकान्तो नियमः; भिन्नस्वभावकेष्वपि ह्यनु-
 कारो दृश्यते; यथा सुतप्तोऽयःपिण्डोऽग्न्यनुकृतिरग्निं दह-
 न्तमनुदहति, भौमं वा रजो वायुं वहन्तमनुवहतीति । ‘अ-
 नुकृतेः’ इत्यनुभानमसुसूचत्; ‘तस्य च’ इति चतुर्थं पाद-
 मस्य श्लोकस्य सूचयति । ‘तस्य भासा सर्वमिदं विभाति’
 इति च तद्धेतुकं भानं सूर्यादेरुच्यमानं प्राज्ञमात्मानं गम-
 यति । ‘तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्’ इति
 हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति । तेजोन्तरेण तु सूर्यादितेजो
 विभातीत्यप्रसिद्धम्, विरुद्धं च; तेजोन्तरेण तेजोन्तरस्य प्र-
 तिघातात् । अथवा न सूर्यादीनामेव श्लोकपरिपठितानामिदं
 तद्धेतुकं विभानमुच्यते; किं तर्हि, ‘सर्वमिदम्’ इत्यविशे-
 षश्रुतेः सर्वस्यैवास्य नामरूपक्रियाकारकफलजातस्य या अ-
 भिव्यक्तिः, सा ब्रह्मज्योतिःसत्तानिमित्ता; यथा सूर्यज्योतिः-
 सत्तानिमित्ता सर्वस्य रूपजातस्याभिव्यक्तिः, तद्वत् । ‘न तत्र
 सूर्यो भाति’ इति च तत्र-शब्दमाहरन्प्रकृतग्रहणं दर्शयति;
 प्रकृतं च ब्रह्म ‘यस्मिन्धौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्’ इत्या-

दिना; अनन्तरं च 'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म नि-
 प्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः'
 इति; कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्यत इदमुत्थितम्— 'न
 तत्र सूर्यो भाति' इति । यदप्युक्तम् सूर्यादीनां तेजसां भान-
 प्रतिषेधस्तेजोधातावेवान्यस्मिन्नवकल्पते, सूर्य इवेतरेषामिति;
 तत्र तु स एव तेजोधातुरन्यो न संभवतीत्युपपादितम् ।
 ब्रह्मण्यपि चैषां भानप्रतिषेधोऽवकल्पते; यतः— यदुप-
 लभ्यते तत्सर्वं ब्रह्मणैव ज्योतिषोपलभ्यते; ब्रह्म तु नान्येन
 ज्योतिषोपलभ्यते, स्वयं ज्योतिःस्वरूपत्वान्, येन सूर्यादय-
 स्तस्मिन्भायुः; ब्रह्म हि अन्यद्वयनक्ति, न तु ब्रह्मान्येन
 व्यज्यते, 'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' 'अगृह्यो न हि गृ-
 ह्यते' इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥

अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

अपि चेद्ग्रूपत्वं प्राज्ञस्यैवात्मनः स्मर्यते भगवद्गीतासु—
 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः । यद्गत्वा न
 निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' इति । 'यदादित्यगतं तेजो
 जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि
 मामकम् इति च ॥

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति’ इति श्रूयते ;
 तथा ‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूत-
 ७. प्रमिताधि- भव्यस्य स एवाद्य स उ अतद्वै तन्’
 करणम् । इति च । तत्र योऽयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः
 श्रूयते, स किं विज्ञानात्मा, किं वा परमात्मेति संशयः ।
 तत्र परिमाणोपदेशाद्विज्ञानात्मेति तावत्प्राप्तम् । न ह्यनन्ता-
 यामविस्तारस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणत्वमुपपद्यते ; विज्ञाना-
 नात्मनस्तूपाधिमत्त्वात्संभवति कयाचित्कल्पनयाङ्गुष्ठमात्र-
 त्वम् । स्मृतेश्च— ‘अथ सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशं
 गतम् । अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्’ इति ;
 न हि परमेश्वरो बलात् यमेन निष्कृष्टुं शक्यः ; तेन तत्र
 संसारी अङ्गुष्ठमात्रो निश्चितः ; स एवेहापीत्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः—परमात्मैवायमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुम-
 र्हीति । कस्मात् ? शब्दान्— ‘ईशानो भूतभव्यस्य’ इति ।
 न ह्यन्यः परमेश्वराद्भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता । ‘एतद्वै
 तन्’ इति च प्रकृतं पृष्टमिहानुसंदधाति ; एतद्वै तन्,
 यत्पृष्टं ब्रह्मेत्यर्थः ; पृष्टं चेह ब्रह्म— ‘अन्यत्र धर्मादन्यत्रा-
 धर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतान् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्त-
 त्पश्यसि तद्वद्व’ इति । शब्दादेवेति— अभिधानश्रुतेरेव—

ईशान इति परमेश्वरोऽवगम्यत इत्यर्थः ॥

कथं पुनः सर्वगतस्य परमात्मनः परिमाणोपदेश इत्यत्र
ब्रूमः—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

सर्वगतस्यापि परमात्मनो हृद्येऽवस्थानमपेक्षयाङ्गुष्ठमात्रत्वमिदमुच्यते ; आकाशस्येव वंशपर्वापेक्षमरत्निमात्रत्वम् । न ह्यञ्जसा अतिमात्रस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपद्यते । न चान्यः परमात्मन इह ग्रहणमर्हति ईशानशब्दादिभ्य इत्युक्तम् । ननु प्रतिप्राणिभेदं हृदयानामनवस्थितत्वात्तदपेक्षमप्यङ्गुष्ठमात्रत्वं नोपपद्यत इत्यत उत्तरमुच्यते—मनुष्याधिकारत्वादिति ; शास्त्रं ह्यविशेषप्रवृत्तमपि मनुष्यानेवाधिकरोति ; शक्तत्वात्, अर्थित्वात्, अपर्युदस्तत्वात् उपनयनादिशास्त्राच्च—इति वर्णितमेतदधिकारलक्षणे । मनुष्याणां च नियतपरिमाणः कायः ; औचित्येन नियतपरिमाणमेव चैषामङ्गुष्ठमात्रं हृदयम् ; अतो मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य मनुष्यहृदयावस्थानापेक्षमङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपन्नं परमात्मनः । यदप्युक्तम्—परिमाणोपदेशान् स्मृतेश्च संसार्येवायमङ्गुष्ठमात्रः प्रत्येतन्न इति ; तत्प्रत्युच्यते—‘स आत्मा तत्त्वमसि’ इत्यादिवन् संसारिण एव सतोऽङ्गुष्ठमात्रस्य ब्रह्मत्वमिदमुपदिश्यत

इति । द्विरूपा हि वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिः—कचित्परमात्मस्वरूपनिरूपणपरा ; कचिद्विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोपदेशपरा । तदत्र विज्ञानात्मनः परमात्मनैकत्वमुपदिश्यते ; नाङ्गुष्ठमात्रत्वं कस्यचित् । एतमेवार्थं परेण स्फुटीकरिष्यति—
'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः । तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ; तं विद्याच्छुक्रममृतम्' इति ॥

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥ २६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षा मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तम् ; तत्प्रसङ्गेनेदमुच्यते । बाढम्, मनुष्यानधिकरो-
८. देवता- ति शास्त्रम् ; न तु मनुष्यानेवेति इह ब्रह्मज्ञाने
धिकरणम् । नियमोऽस्ति । तेषां मनुष्याणाम् उपरिष्ठाद्ये देवादयः, तानप्यधिकरोति शास्त्रमिति बादरायण आचार्यो मन्यते ; कस्मात् ? संभवात् । संभवति हि तेषामप्यधिकारत्वाद्यधिकारकारणम् ; तत्रार्थित्वं तावन्मोक्षविषयं देवादीनामपि संभवति विकारविषयविभूत्यनित्यत्वालोचनादिनिमित्तम् ; तथा सामर्थ्यमपि तेषां संभवति, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमात् ; न च तेषां कश्चित्प्रतिषेधोऽस्ति ; न चोपनयनशास्त्रेणैषामधिकारो निवर्त्येत, उप-

नयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वान्, तेषां च स्वयंप्रतिभातवेदत्वान्; अपि चैषां विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि दर्शयति—‘ एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास’ ‘ भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपसस्मार । अधीहि भगवो ब्रह्म’ इत्यादि । यदपि कर्मस्वनधिकारकारणमुक्तम्— ‘ न देवानां देवतान्तराभावान्’ इति, ‘ न ऋषीणाम्, आर्षेयान्तराभावात्’ इति; न तद्विद्यासु अस्ति । न हीन्द्रादीनां विद्यास्वधिक्रियमाणानामिन्द्राद्युद्देशेन किञ्चित्कृत्यमस्ति; न च भृगवादीनां भृगवादिसगोत्रतया । तस्माद्देवादीनामपि विद्यास्वधिकारः केन वार्यते ? देवाद्यधिकारेऽप्यङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः म्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुध्येत ॥

**विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रति-
पत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥**

स्यादेतत्— यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो वण्येत, विग्रहवत्त्वान् ऋत्विगादिवदिन्द्रादीनामपि स्वरूपसंनिधानेन कर्माङ्गभावोऽभ्युपगम्येत; तदा च विरोधः कर्मणि स्यात्; न हीन्द्रादीनां स्वरूपसंनिधानेन यागाङ्गभावो दृश्यते; न च संभवति, बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य स्वरूपसंनिधानानुपपत्तेरिति चेत्, ना-

यमस्ति विरोधः; कस्मात्? अनेकप्रतिपत्तेः । एकस्यापि देवतात्मनो युगपदनेकस्वरूपप्रतिपत्तिः संभवति । कथमेतदवगम्यते? दर्शनात् । तथाहि— ‘कति देवाः’ इत्युपक्रम्य ‘त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा’ इति निरुच्य ‘कतमे ते’ इत्यस्यां पृच्छायाम् ‘महिमान एवेषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः’ इति ब्रुवती श्रुतिः एकैकस्य देवतात्मनो युगपदनेकरूपतां दर्शयति । तथा त्रयस्त्रिंशतोऽपि षडाद्यन्तर्भावक्रमेण ‘कतम एको देव इति प्राणः’ इति प्राणैकरूपतां देवानां दर्शयन्ती तस्यैव एकस्य प्राणस्य युगपदनेकरूपतां दर्शयति । तथा स्मृतिरपि— ‘आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ । योगी कुर्याद्ब्रह्मं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥ प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् । संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव’ इत्येवंजातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्चर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति ; किमु वक्तव्यमाजानसिद्धानां देवानाम्? अनेकरूपप्रतिपत्तिसंभवाच्च एकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गभावं गच्छतीति । परैश्च न दृश्यते, अन्तर्धानादिशक्तियोगात्—इत्युपपन्नते । ‘अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्’ इत्यस्यापरा व्याख्या—विग्रहवतामपि क-

मार्ङ्गभावचोदनासु अनेका प्रतिपत्तिर्दृश्यते ; कचिदेकोऽपि विग्रहवानेकत्र युगपदङ्गभावं न गच्छति, यथा बहुभिर्भोज-
यद्भिर्नैको ब्राह्मणो युगपद्भोज्यते ; कचिच्चैकोऽपि विग्रहवान-
नेकत्र युगपदङ्गभावं गच्छति, यथा बहुभिर्नमस्कुर्वाणैरेको
ब्राह्मणो युगपन्नमस्क्रियते ; तद्वदिहोद्देशपरित्यागात्मकत्वान्
यागस्य विग्रहवतीमप्येकां देवतामुद्दिश्य बहवः स्वं स्वं द्रव्यं
युगपत्परित्यक्ष्यन्तीति विग्रहवत्त्वेऽपि देवानां न किञ्चित्क-
र्मणि विरुध्यते ॥

**शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानु-
मानाभ्याम् ॥ २८ ॥**

मा नाम विग्रहवत्त्वे देवादीनामभ्युपगम्यमाने कर्मणि
कश्चिद्विरोधः प्रसञ्जि ; शब्दे तु विरोधः प्रसज्येत । कथम् ?
औत्पत्तिकं हि शब्दस्यार्थेन संबन्धमाश्रित्य ‘अनपेक्षत्वात्’
इति वेदस्य प्रामाण्यं स्थापितम् । इदानीं तु विग्रहवती देव-
ताभ्युपगम्यमाना यद्यप्यैश्वर्ययोगालुगपदनेककर्मसंबन्धीनि
हवींषि भुञ्जीत, तथापि विग्रहयोगादस्मदादिवज्जननमरण-
वती सेति, नित्यस्य शब्दस्य नित्येनार्थेन नित्ये संबन्धे
प्रतीयमाने यद्वैदिके शब्दे प्रामाण्यं स्थितम्, तस्य विरोधः
स्यादिति चेत्, नायमप्यस्ति विरोधः ; कस्मात् ? अतः

प्रभवात् । अत एव हि वैदिकाच्छब्दाद्देवादिकं जगत्प्रभवति ॥

ननु 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यत्र ब्रह्मप्रभवत्वं जगतोऽवधारितम्, कथमिह शब्दप्रभवत्वमुच्यते? अपि च यदि नाम वैदिकाच्छब्दादस्य प्रभवोऽभ्युपगतः, कथमेतावता विरोधः शब्दे परिहृतः? यावता वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इत्येतेऽर्था अनित्या एव, उत्पत्तिमन्वात्; तदनित्यत्वे च तद्वाचिनां वैदिकानां वस्वादिशब्दानामनित्यत्वं केन निवार्यते? प्रसिद्धं हि लोके देवदत्तस्य पुत्र उत्पन्ने यज्ञदत्त इति तस्य नाम क्रियत इति; तस्माद्विरोध एव शब्द इति चेत्, न; गवादिशब्दार्थसंबन्धनित्यत्वदर्शनात् । न हि गवादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्त्वे तदाकृतीनामप्युत्पत्तिमत्त्वं स्यात् । द्रव्यगुणकर्मणां हि व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते, नाकृतयः । आकृतिभिश्च शब्दानां संबन्धः, न व्यक्तिभिः, व्यक्तीनामानन्त्यात्संबन्धग्रहणानुपपत्तेः । व्यक्तिपूत्पद्यमानास्वप्याकृतीनां नित्यत्वात् न गवादिशब्देषु कश्चिद्विरोधो दृश्यते । तथा देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वात् न कश्चिद्वस्वादिशब्देषु विरोध इति द्रष्टव्यम् । आकृतिविशेषस्तु देवादीनां मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहवत्त्वा-

श्रवणमादवगन्तव्यः । स्थानविशेषसंबन्धनिमित्ता वा इन्द्रा-
दिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवन् । ततश्च यो यस्तत्तत्स्थानम-
धितिष्ठति, स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इति न दोषो
भवति । न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववदुपादानकार-
णत्वाभिप्रायेणोच्यते । कथं तर्हि, स्थिते वाचकात्मना नित्ये
शब्दे नित्यार्थसंबन्धिनि शब्दव्यवहारयोग्यार्थव्यक्तिनिष्प-
त्तिः 'अतः प्रभवः' इत्युच्यते । कथं पुनरवगम्यते शब्दा-
त्प्रभवति जगदिति?— प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्; प्रत्यक्षं हि
श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्; अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं
प्रति सापेक्षत्वात्; ते हि शब्दपूर्वा सृष्टिं दर्शयतः; 'एत
इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृष्टमिति मनुष्यानिन्दव इति
पितृंस्तिरःपवित्रमिति प्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्रानीति
शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः' इति श्रुतिः; तथान्यत्रापि
'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्' इत्यादिना तत्र तत्र
शब्दपूर्विका सृष्टिः श्राव्यते; स्मृतिरपि— 'अनादिनि-
धना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा । आदौ वेदमयी दिव्या
यतः सर्वाः प्रवृत्तयः' इति; उत्सर्गोऽप्ययं वाचः संप्रदा-
यप्रवर्तनात्मको द्रष्टव्यः, अनादिनिधनाया अन्यादृशस्यो-
त्सर्गस्यासंभवान्; तथा 'नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च

प्रवर्तनम् । वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः' इति । 'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' इति च ; अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठन्न तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत् ; तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान्ससर्जेति गम्यते ; तथा च श्रुतिः 'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्' इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान्सृष्टान्दर्शयति ॥

किमात्मकं पुनः शब्दमभिप्रेत्येदं शब्दप्रभवत्वमुच्यते ? स्फोटम् इत्याह । वर्णपक्षे हि तेषामुत्पन्नप्रध्वंसित्वाभित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यनुपपन्नं स्यात् ; उत्पन्नध्वंसिनश्च वर्णाः, प्रत्युच्चारणमन्यथा चान्यथा च प्रतीयमानत्वात् ; तथा ह्यदृश्यमानोऽपि पुरुषविशेषोऽध्ययनध्वनिश्रवणादेव विशेषतो निर्धार्यते—' देवदत्तोऽयमधीते, यज्ञदत्तोऽयमधीते' इति ; न चायं वर्णविषयोऽन्यथात्वप्रत्ययो मिथ्याज्ञानम्, बाधकप्रत्ययाभावात् । न च वर्णेभ्योऽर्थान्नगतिर्युक्ता ; न ह्येकैको वर्णोऽर्थं प्रत्याययेत्, व्यभिचारात् ; न

च वर्णसमुदायप्रत्ययोऽस्ति, क्रमवर्तित्वाद्वर्णानाम्; पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति यद्युच्येत, तन्न; संबन्धग्रहणापेक्षो हि शब्दः स्वयं प्रतीयमानोऽर्थं प्रत्याययेत्, धूमादिवन्; न च पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितस्यान्त्यवर्णस्य प्रतीतिरस्ति, अप्रत्यक्षत्वात्संस्काराणाम्; कार्यप्रत्यायितैः संस्कारैः सहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति चेत्, न; संस्कारकार्यखापि स्मरणस्य क्रमवर्तित्वात्; तस्मात्स्फोट एव शब्दः । स चैकैकवर्णप्रत्ययाहितसंस्कारबीजेऽन्त्यवर्णप्रत्ययजनितपरिपाके प्रत्ययिन्येकप्रत्ययविषयतया झटिति प्रत्यवभासते; न चायमेकप्रत्ययो वर्णविषया स्मृतिः, वर्णानामनेकत्वादेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः; तस्य च प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्नित्यत्वम्, भेदप्रत्ययस्य वर्णविषयत्वात् । तस्मान्नित्याच्छब्दात्स्फोटरूपादाभिधायकात्क्रियाकारकफललक्षणं जगदभिधेयभूतं प्रभवतीति ॥

‘वर्णा एव तु शब्दः’ इति भगवानुपवर्षः । ननूत्पन्नप्रध्वंसित्वं वर्णानामुक्तम्; तन्न, त एवेति प्रत्यभिज्ञानात्; सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानं केशादिष्विवेति चेत्, न; प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमाणान्तरेण बाधानुपपत्तेः; प्रत्यभिज्ञानमाकृतिनिमित्तमिति चेत्, न; व्यक्तिप्रत्यभिज्ञानात्; यदि हि प्रत्युच्चारणं

गवादिव्यक्तिवदन्या अन्या वर्णव्यक्तयः प्रतीयेरन्, तत आकृतिनिमित्तं प्रत्यभिज्ञानं स्यात्; न त्वेतदस्ति; वर्णव्यक्तय एव हि प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायन्ते; द्विर्गोशब्द उच्चारितः— इति हि प्रतिपत्तिः; न तु द्वौ गोशब्दाविति । ननु वर्णा-
 अप्युच्चारणभेदेन भिन्नाः प्रतीयन्ते, देवदत्तयज्ञदत्तयोरध्ययन-
 ध्वनिश्रवणादेव भेदप्रतीतेरित्युक्तम्; अत्राभिधीयते— सति
 वर्णविषये निश्चिते प्रत्यभिज्ञाने, संयोगविभागाभिव्यङ्ग्य-
 त्वाद्दर्शानाम्, अभिव्यञ्जकवैचित्र्यनिमित्तोऽयं वर्णविषयो
 विचित्रः प्रत्ययः, न स्वरूपनिमित्तः; अपि च वर्णव्यक्तिभे-
 दवादिनापि प्रत्यभिज्ञानसिद्धये वर्णाकृतयः कल्पयितव्याः;
 तासु च परोपाधिको भेदप्रत्यय इत्यभ्युपगन्तव्यम्; तद्वरं
 वर्णव्यक्तिष्वेव परोपाधिको भेदप्रत्ययः, स्वरूपनिमित्तं च
 प्रत्यभिज्ञानम्— इति कल्पनालाघवम् । एष एव च वर्ण-
 विषयस्य भेदप्रत्ययस्य बाधकः प्रत्ययः, यत्प्रत्यभिज्ञानम् ।
 कथं ह्येकस्मिन्काले बहूनामुच्चारयतामेक एव सन् गकारो
 युगपदनेकरूपः स्यात्— उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च सानु-
 नासिकश्च निरनुनासिकश्चेति; अथवा ध्वनिकृतोऽयं भेदप्र-
 त्ययो न वर्णकृत इत्यदोषः । कः पुनरयं ध्वनिर्नाम? यो
 दूरादाकर्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथभवत्-

रति; प्रत्यासीदत्तश्च पटुमृदुत्वादिभेदं वर्णेष्वसञ्जयति; तन्निबन्धनाञ्चोदात्तादयो विशेषाः, न वर्णस्वरूपनिबन्धनाः, वर्णानां प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्; एवं च सति सालम्बना एवैते उदात्तादिप्रत्यया भविष्यन्ति; इतरथा हि वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां निर्भेदत्वात्संयोगविभागकृता उदात्तादिविशेषाः कल्पयेन्; संयोगविभागानां चाप्रत्यक्षत्वान्न तदाश्रया विशेषाः वर्णेष्वध्यवसातुं शक्यन्त इत्यतो निरालम्बना एव एते उदात्तादिप्रत्ययाः स्युः । अपि च नैवैतदभिनिवेष्टव्यम्—उदात्तादिभेदेन वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां भेदो भवेदिति; न ह्यन्यस्य भेदेनान्यस्याभिद्यमानस्य भेदो भवितुमर्हति; न हि व्यक्तिभेदेन जातिं भिन्नां मन्यन्ते । वर्णेभ्यश्चार्थप्रतीतिः संभवात् स्फोटकल्पनानार्थिका । न कल्पयाम्यहं स्फोटम्, प्रत्यक्षमेव त्वेनमवगच्छामि, एकैकवर्णग्रहणाहितसंस्कारायां बुद्धौ झटिति प्रत्यवभासनादिति चेत्, न; अस्या अपि बुद्धेर्वर्णविषयत्वात्; एकैकवर्णग्रहणोत्तरकाला हीयमेका बुद्धिर्गौरिति समस्तवर्णविषया, नार्थान्तरविषया; कथमेतदवगम्यते? यतोऽस्यामपि बुद्धौ गकारादयो वर्णा अनुवर्तन्ते, न तु दकारादयः; यदि ह्यस्या बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थान्तरं स्फोटो विषयः स्यात्, ततो दकारा-

दय इव गकारादयोऽप्यस्या बुद्धेर्व्यावर्तेरन् ; न तु तथास्ति ; तस्मादियमेकबुद्धिर्वर्णविषयैव स्मृतिः । नन्वनेकत्वाद्वर्णानां नैकबुद्धिविषयतोपपद्यत इत्युक्तम् , तत्प्रति ब्रूमः—संभवत्यनेकस्याप्येकबुद्धिविषयत्वम् , पङ्क्तिः वनं सेना दश शतं सहस्रमित्यादिदर्शनात् ; या तु गौरित्येकोऽयं शब्द इति बुद्धिः , सा बहुष्वेव वर्णेष्वेकार्थावच्छेदनिबन्धना औपचारिकी वनसेनादिबुद्धिवदेव । अत्राह— यदि वर्णा एव सामस्त्येन एकबुद्धिविषयतामापद्यमानाः पदं स्युः , ततो जारा राजा कपिः पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात् ; त एव हि वर्णा इतरत्रेतरत्र च प्रत्यवभासन्त इति ; अत्र वदामः—सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति , एवं क्रमानुरोधिन एव हि वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति ; तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरुध्यते ; वृद्धव्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाद्यनुगृहीता गृहीतार्थविशेषसंबन्धाः सन्तः स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्यवमर्शिन्यां बुद्धौ तादृशा एव प्रत्यवभासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनो लघीयसी कल्पना । स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिः , अदृष्टकल्पना च ; वर्णाश्रेमे क्रमेण गृह्यमा-

णाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी
कल्पना स्यात् ॥

अथापि नाम प्रत्युच्चारणमन्येऽन्ये वर्णाः स्युः, तथापि
प्रत्यभिज्ञालम्बनभावेन वर्णसामान्यानामवश्याभ्युपगन्तव्य-
त्वान्, वर्णेष्वर्थप्रतिपादनप्रक्रिया रचिता सा सामान्येषु
संचारयितव्या । ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिद्व्यक्ती-
नां प्रभव इत्यविरुद्धम् ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

कर्तुरस्मरणादिति स्थिते वेदस्य नित्यत्वे देवादिद्व्य-
क्तिप्रभवाभ्युपगमेन तस्य विरोधमाशङ्क्य 'अतः प्रभवान्'
इति परिहृत्य इदानीं तदेव वेदनित्यत्वं स्थितं द्रढयति—
अत एव च नित्यत्वमिति । अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो
वेदशब्दप्रभवत्वान् वेदशब्दनित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम् । तथा च
मन्त्रवर्णः—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायंस्तामन्वविन्दन्नृषिषु
प्रविष्टाम्' इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति । वेदव्या-
सश्चैवमेव स्मरति—'युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्मह-
र्षयः । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा' इति ॥

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो

दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

अथापि स्यात्— यदि पञ्चादिव्यक्तिवद्देवादिव्यक्तयोऽपि संतत्यैवोत्पद्येरन् निरुध्येरंश्च, ततोऽभिधानाभिधेयाभिधातृव्यवहाराविच्छेदात्संबन्धानित्यत्वेन विरोधः शब्दे परिह्रियेत । यदा तु खलु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनामरूपं निर्लेपं प्रलीयते, प्रभवति चाभिनवमिति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति, तदा कथमविरोध इति । तत्रेदमभिधीयते समा-
ननामरूपत्वादिति । तदापि संसारस्यानादित्वं तावदभ्युप-
गन्तव्यम् । प्रतिपादयिष्यति चाचार्यः संसारस्यानादित्वम्
— ‘उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च’ इति । अनादौ च सं-
सारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणेऽपि पूर्वप्रबोध-
वदुत्तरप्रबोधेऽपि व्यवहारान्न कश्चिद्विरोधः, एवं कल्पा-
न्तरप्रभवप्रलययोरपीति द्रष्टव्यम् । स्वापप्रबोधयोश्च प्रलय-
प्रभवौ श्रूयते— ‘यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथा-
स्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैतं वाक्सर्वैर्नामभिः सहा-
प्येति चक्षुः सर्वै रूपाः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहा-
प्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते
यथाप्रेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवै-
तस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो
देवा देवेभ्यो लोकाः’ इति । स्यादेतत्— स्वापे पुरुषा-

न्तरव्यवहाराविच्छेदात्स्वयं च सुषुप्तप्रबुद्धस्य पूर्वप्रबोधव्य-
 वहारानुसंधानसंभवादविरुद्धम्; महाप्रलये तु सर्वव्यवहा-
 रोच्छेदाज्जन्मान्तरव्यवहारवच्च कल्पान्तरव्यवहारस्यानुसं-
 धातुमशक्यत्वाद्वैषम्यमिति । नैष दोषः, सत्यपि सर्वव्यव-
 हारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहादीश्वराणां हिरण्यग-
 र्भादीनां कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तेः । यद्यपि प्रा-
 कृताः प्राणिनो न जन्मान्तरव्यवहारमनुसंधाना दृश्यन्त
 इति, तथापि न तत्प्राकृतवदीश्वराणां भवितव्यम् । यथा
 हि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्व-
 र्यादिप्रतिबन्धः परेण परेण भूयान् भवन् दृश्यते;
 तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्य-
 क्तिरपि परेण परेण भूयसी भवतीत्येतच्छ्रुतिस्मृतिवादे-
 ष्वसकृदेवानुकल्पादौ प्रादुर्भवतां पारमैश्वर्यं श्रूयमाणं न
 शक्यं नास्तीति वदितुम् । ततश्चातीतकल्पानुष्ठितप्रकृष्ट-
 ज्ञानकर्मणासीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रा-
 दुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रतिबुद्धवत्कल्पान्तरव्य-
 वहारानुसंधानोपपत्तिः । तथा च श्रुतिः— ‘यो ब्रह्माणं
 विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै । तं हि
 देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये’ इति ।

स्मरन्ति च शौनकादयः— ‘मधुच्छन्दःप्रभृतिभिर्ऋषिभिर्दा-
 शतय्यो दृष्टाः’ इति । प्रतिवेदं चैवमेव काण्डर्ष्यादयः स्मर्य-
 न्ते । श्रुतिरपि ऋषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणानुष्ठानं दर्शयति—
 ‘यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याज-
 यति वाध्यापयति वा स्थाणुं वच्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते’
 इत्युपक्रम्य ‘तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्’ इति ।
 प्राणिनां च सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते; दुःखपरिहाराय
 चाधर्मः प्रतिषिध्यते; दृष्टानुश्रविकसुखदुःखविषयौ च राग-
 द्वेषौ भवतः, न विलक्षणविषयौ— इत्यतो धर्माधर्मफल-
 भूतोत्तरोत्तरा सृष्टिर्निष्पद्यमाना पूर्वसृष्टिसदृश्येव निष्पद्यते ।
 स्मृतिश्च भवति— ‘तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां
 प्रतिपेदिरे । तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥
 हिंसाहिंसे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृत्तानृते । तद्भाविताः प्रपद्यन्ते
 तस्मात्तत्तस्य रोचते’ इति । प्रलीयमानमपि चेदं जगच्छ-
 क्त्यवशेषमेव प्रलीयते; शक्तिमूलमेव च प्रभवति; इतरथा
 आकस्मिकत्वप्रसङ्गात् । न चानेकाकाराः शक्तयः शक्त्याः क-
 ल्पयितुम् । ततश्च विच्छिद्य विच्छिद्याप्युद्भवतां भूरादिलोक-
 प्रवाहाणाम्, देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणानां च प्राणिनिकायप्रवा-
 हाणाम्, वर्णाश्रमधर्मफलव्यवस्थानां चानादौ संसारे नियत-

त्वमिन्द्रियाविषयसंबन्धनियतत्ववत्प्रत्येतव्यम् ; न हीन्द्रियविषयसंबन्धादेर्व्यवहारस्य प्रतिसर्गमन्यथात्वं षष्ठेन्द्रियविषयकल्पं शक्यमुत्प्रेक्षितुम् । अतश्च सर्वकल्पानां तुल्यव्यवहारत्वान् कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानक्षमत्वाच्चेत्पराणां समानामरूपा एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति । समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्गमहाप्रलयलक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्दप्रामाण्यादिविरोधः । समाननामरूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः— ‘सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयन् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुवः’ इति ; यथा पूर्वस्मिन्कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत् कल्पम् , तथास्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः ; तथा— ‘अग्निर्वा अकामयत । अन्नादो देवानां स्यामिति । स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्’ इति नक्षत्रेष्ट्रिविधौ योऽग्निर्निरवपत् यस्मै वाग्नये निरवपत् , तयोः समाननामरूपतां दर्शयति— इत्येवंजातीयका श्रुतिरिहोदाहर्तव्या ; स्मृतिरपि ‘ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः । शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥ यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ यथाभिमानिनोऽतीतास्तु-

ल्यास्ते सांप्रतैरिह । देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च'
इत्येवंजातीयका द्रष्टव्या ॥

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥

इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति यत्प्र-
तिज्ञातं तत्पर्यावर्त्यते— देवादीनामनधिकारं जैमिनिराचार्यो
मन्यते ; कस्मात् ? मध्वादिष्वसंभवात् । ब्रह्मविद्यायामधिका-
राभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषात् मध्वादिविद्यास्वप्यधिकारो-
ऽभ्युपगम्येत ; न चैवं संभवति ; कथम् ? ' असौ वा आदित्यो
देवमधु ' इत्यत्र मनुष्या आदित्यं मध्वध्यासेनोपासीरन् ; देवा-
दिषु ह्युपासकेष्वभ्युपगम्यमानेष्ववादित्यः कथमन्यमादित्यमुपा-
सीत ? पुनश्चादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्यनु-
क्रम्य, वसवो रुद्रा आदित्या मरुतः साध्याश्च पञ्च देवगणाः
क्रमेण तत्तदमृतमुपजीवन्तीत्युपदिश्य, ' स य एतदेवममृतं
वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृष्यति '
इत्यादिना वस्वाद्युपजीव्यान्यमृतानि विजानतां वस्वादिम-
हिमप्राप्तिं दर्शयति ; वस्वादयस्तु कान् अन्यान् वस्वादीन-
मृतोपजीविनो विजानीयुः ? कं वान्यं वस्वादिमहिमानं प्रे-
प्सेयुः ? तथा— ' अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो

दिशः पादः' 'वायुर्वा संवर्गः' 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः'
इत्यादिषु देवतात्मोपासनेषु न तेषामेव देवतात्मनामधि-
कारः संभवति; तथा 'इमामेव गौतमभरद्वाजावयं वै गौ-
तमोऽयं भरद्वाजः' इत्यादिष्वपि ऋषिसंबन्धेषूपासनेषु न
तेषामेव ऋषीणामधिकारः संभवति ॥

कुतश्च देवादीनामनधिकारः—

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

यदिदं ज्योतिर्मण्डलं युस्थानमहोरात्राभ्यां बम्भ्रमज्जग-
दवभासयति, तस्मिन्नादित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः प्रयु-
ज्यन्ते; लोकप्रसिद्धेर्वाक्यशेषप्रसिद्धेश्च । न च ज्योतिर्मण्ड-
लस्य हृद्यादिना विग्रहेण चेतनतया अर्थित्वादिना वा यो-
गोऽवगन्तुं शक्यते, मृदादिवदचेतनत्वावगमात् । एतेना-
ग्न्यादयो व्याख्याताः ॥

स्यादेतत्— मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवादीनां
विग्रहवत्त्वाद्यवगमादयमदोष इति चेत्, नेत्युच्यते; न ताव-
ल्लोको नाम किञ्चित्स्वतन्त्रं प्रमाणमस्ति; प्रत्यक्षादिभ्य एव
अव्यभिचारितविषयेभ्यः प्रमाणेभ्यः प्रसिद्ध एवार्थो लोकात्प्र-
सिद्ध इत्युच्यते; न चात्र प्रत्यक्षादीनामन्यतमं प्रमाणमस्ति;

इतिहासपुराणानामपि पौरुषेयत्वात्प्रमाणान्तरमूलतामाकाङ्क्षति; अर्थवादा अपि विधिनैकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थाः सन्तो न पार्थगर्थेन देवादीनां विग्रहादिसद्भावे कारणभावं प्रतिपद्यन्ते; मन्त्रा अपि श्रुत्यादिविनियुक्ताः प्रयोगसमवायिनोऽभिधानार्था न कस्यचिदर्थस्य प्रमाणमित्याचक्षते; तस्माद्भावो देवादीनामधिकारस्य ॥

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

तु-शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । बादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनामपि मन्यते । यद्यपि मध्वादिविद्यासु देवतादिव्यामिश्रास्वसंभवोऽधिकारस्य, तथाप्यस्ति हि शुद्धायां ब्रह्मविद्यायां संभवः; अर्थित्वसामर्थ्याप्रतिषेधाद्यपेक्षत्वादधिकारस्य । न च क्वचिदसंभव इत्येतावता यत्र संभवस्तत्राप्यधिकारोऽपोद्येत । मनुष्याणामपि न सर्वेषां ब्राह्मणादीनां सर्वेषु राजसूयादिष्वधिकारः संभवति । तत्र यो न्यायः सोऽत्रापि भविष्यति । ब्रह्मविद्यां च प्रकृत्य भवति लिङ्गदर्शनं श्रौतं देवाद्यधिकारस्य सूचकम्— ‘तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्’ इति, ‘ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वाश्च लोकानाप्रोति सर्वाश्च कामान्’ इति,

‘इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्’
इत्यादि च । स्मार्तमपि च गन्धर्वयाज्ञवल्क्यसंवादादि ॥

यदप्युक्तम् ‘ज्योतिषि भावाच्च’ इति, अत्र ब्रूमः—ज्यो-
तिरादिविषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाश्चेत-
नावन्तमैश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयन्ति, मन्त्रा-
र्थवादादिषु तथा व्यवहारात् । अस्ति हैश्वर्ययोगाद्देवतानां
ज्योतिराद्यात्मभिश्चावस्थातुं यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं
सामर्थ्यम् । तथा हि श्रूयते सुब्रह्मण्यार्थवादे— ‘मेधाति-
थेर्मेष— इति— मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा
जहार’ इति । स्मर्यते च—‘आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्ती-
मुपजगाम ह’ इति । मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्यु-
पगम्यन्ते ; ‘मृदब्रवीत्’ ‘आपोऽब्रुवन्’ इत्यादिदर्शनात् ।
ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिष्वप्यचेतनत्वमभ्युपगम्यते ।
चेतनास्त्वधिष्ठातारो देवतात्मानो मन्त्रार्थवादादिषु व्यवहारा-
दित्युक्तम् ॥

यदप्युक्तम्— मन्त्रार्थवादयोरन्यार्थत्वान्न देवताविग्रहा-
दिप्रकाशनसामर्थ्यमिति, अत्र ब्रूमः— प्रत्ययाप्रत्ययौ हि स-
द्भावासद्भावयोः कारणम् ; नान्यार्थत्वमनन्यार्थत्वं वा ; तथा
हन्यार्थमपि प्रस्थितः पथि पतितं तृणपर्णाद्यस्तीत्येव प्रतिप-

द्यते । अत्राह—विषम उपन्यासः ; तत्र हि वृत्तपणादिविषयं प्रत्यक्षं प्रवृत्तमस्ति, येन तदस्तित्वं प्रतिपद्यते ; अत्र पुनर्विध्युद्देशैकवाक्यभावेन स्तुत्यर्थोऽर्थवादे न पार्थगभ्येन वृत्तान्तविषया प्रवृत्तिः शक्याध्यवसातुम् ; न हि महावाक्येऽर्थप्रत्यायकेऽवान्तरवाक्यस्य पृथक्प्रत्यायकत्वमस्ति ; यथा 'न सुरां पिबेत्' इति नञ्वाति वाक्ये पदत्रयसंबन्धात्सुरापानप्रतिषेध एवैकोऽर्थोऽवगम्यते ; न पुनः सुरां पिबेदिति पदद्वयसंबन्धात्सुरापानविधिरपीति । अत्रोच्यते— विषम उपन्यासः ; युक्तं यत्सुरापानप्रतिषेधे पदान्वयस्यैकत्वाद्वा-न्तरवाक्यार्थस्याग्रहणम् ; विध्युद्देशार्थवादयोस्त्वर्थवादस्थानि पदानि पृथगन्वयं वृत्तान्तविषयं प्रतिपद्य, अनन्तरं कैमर्थ्यवशेन कामं विधेः स्तावकत्वं प्रतिपद्यन्ते ; यथा हि 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यत्र विध्युद्देशवर्तिनां वायव्यादिपदानां विधिना संबन्धः, नैवम् 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' इत्येषामर्थवादगतानां पदानाम् ; न हि भवति 'वायुर्वा आलभेत' इति 'क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेत' इत्यादि । वायुस्वभावसंकीर्तनेन तु अवान्तरमन्वयं प्रतिपद्य, एवं विशिष्टदैवत्यमिदं कर्मेति विधिं स्तुवन्ति । तद्यत्

योऽवान्तरवाक्यार्थः प्रमाणान्तरगोचरो भवति, तत्र तदनु-
वादेनार्थवादः प्रवर्तते; यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धः, तत्र गुण-
वादेन; यत्र तु तदुभयं नास्ति, तत्र किं प्रमाणान्तराभावा-
द्गुणवादः स्यात्, आहोस्त्वित्प्रमाणान्तराविरोधाद्विद्यमानार्थ-
वाद इति— प्रतीतिशरणैर्विद्यमानार्थवाद आश्रयणीयः, न गु-
णानुवादः; एतेन मन्त्रो व्याख्यातः । अपि च विधिभिरेवेन्द्रा-
दिदेवत्यानि हवींषि चोदयद्भिरपेक्षितमिन्द्रादीनां स्वरूपम्;
न हि स्वरूपरहिता इन्द्रादयश्चेतस्यारोपयितुं शक्यन्ते;
न च चेतस्यनारूढायै तस्यै तस्यै देवतायै हविः प्रदातुं
शक्यते; श्रावयति च— ‘यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं
स्यात्तां ध्यायेद्वषट् करिष्यन्’ इति; न च शब्दमात्र-
मर्थस्वरूपं संभवति, शब्दार्थयोर्भेदात्; तत्र यादृशं मन्त्रा-
र्थवादयोरिन्द्रादीनां स्वरूपमवगतं न तत्तादृशं शब्दप्रमाण-
केन प्रत्याख्यातुं युक्तम् । इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन
मार्गेण संभवन्मन्त्रार्थवादमूलकत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि
साधयितुम्; प्रत्यक्षादिमूलमपि संभवति; भवति ह्यस्माक-
मप्रत्यक्षमपि चिरंतनानां प्रत्यक्षम्; तथा च व्यासादयो दे-
वादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते; यस्तु ब्रूयात्—इदा-
नींतनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्य-

मिति, स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत् ; इदानीमिव च नान्यदा-
 पि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयान्, ततश्च राजसूयादि-
 चोदना उपरुन्ध्यान् ; इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थि-
 तप्रायान्वर्णाश्रमधर्मान्प्रतिजानीत, ततश्च व्यवस्थाविधायि
 शास्त्रमनर्थकं कुर्यान् ; तस्माद्धर्मोत्कर्षवशाच्चिरंतना देवादिभिः
 प्रत्यक्षं व्यवजहुरिति श्लिष्यते । अपि च स्मरन्ति—
 ‘स्वाध्यायादिष्ट्रदेवतासंप्रयोगः’ इत्यादि ; योगोऽप्यणिमाद्यै-
 श्वर्यप्राप्तिफलकः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्या-
 ख्यातुंम् ; श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति—‘पृथिव्यप्रेजो-
 ऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य
 रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्स्य योगाग्निमयं शरीरम्’
 इति । ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदी-
 येन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तम् । तस्मात्समूलमितिहासपुगा-
 णम् । लोकप्रसिद्धिरपि न सति संभवे निरालम्बनाध्यवसातुं
 युक्ता । तस्मादुपपन्नो मन्त्रादिभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वा-
 द्यवगमः । ततश्चार्थित्वादिसंभवादुपपन्नो देवादीनामपि ब्रह्म-
 विद्यायामधिकारः । क्रममुक्तिदर्शनान्यप्येवमेवोपपद्यन्ते ॥

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणा-

त्सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

यथा मनुष्याधिकारनियममपोद्य देवादीनामपि विद्यास्व-
धिकार उक्तः, तथैव द्विजात्यधिकारनियमापवादेन शूद्रस्या-
९. अपशूद्राधि- प्यधिकारः स्यादित्येतामाशङ्कां निवर्तयितु-
करणम् । मिदमधिकरणमारभ्यते । तत्र शूद्रस्याप्यधि-
कारः स्यादिति तावत्प्राप्तम्; अर्थित्वसामर्थ्ययोः संभवात्,
'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इतिवत् शूद्रो विद्यायामनव-
क्लृप्त इति निषेधाश्रवणात् । यच्च कर्मस्वनधिकारकारणं
शूद्रस्यानभित्वम्, न तद्विद्यास्वधिकारस्यापवादकम्; न ह्याह-
वनीयादिरहितेन विद्या वेदितुं न शक्यते । भवति च श्रौतं
लिङ्गं शूद्राधिकारस्योपोद्बलकम्; संवर्गविद्यायां हि जानश्रुतिं
पौत्रायणं शुश्रूषुं शूद्रशब्देन परामृशति—'अह हारे त्वा शूद्र
तवैव सह गोभिरस्तु' इति । विदुरप्रभृतयश्च शूद्रयोनिप्र-
भवा अपि विशिष्टविज्ञानसंपन्नाः स्मर्यन्ते । तस्मादधिक्रियते
शूद्रो विद्यास्वित्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः— न शूद्रस्याधिकारः, वेदाध्ययनाभावात् । अधी-
तवेदो हि विदितवेदारथो वेदार्थेष्वधिक्रियते । न च शूद्रस्य
वेदाध्ययनमस्ति; उपनयनपूर्वकत्वाद्देवाध्ययनस्य, उपनयनस्य
च वर्णत्रयविषयत्वात् । यत्तु अर्थित्वम्, न तदसति सामर्थ्ये-
ऽधिकारकारणं भवति । सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलम-

धिकारकारणं भवति ; शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्य-
स्यापेक्षितत्वात् , शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्याध्ययननिराकरणे-
न निराकृतत्वात् । यच्चेदम् ' शूद्रो यज्ञेऽनवक्लमः ' इति, तत्
न्यायपूर्वकत्वाद्विद्यायामप्यनवक्लमत्वं द्योतयति ; न्यायस्य
साधारणत्वात् । यत्पुनः संवर्गविद्यायां शूद्रशब्दश्रवणं लिङ्गं
मन्यसे, न तल्लिङ्गम् ; न्यायाभावात् । न्यायोक्ते हि लिङ्ग-
दर्शनं द्योतकं भवति । न चात्र न्यायोऽस्ति । कामं चायं
शूद्रशब्दः संवर्गविद्यायामेवैकस्यां शूद्रमधिकुर्यात्, तद्विषय-
त्वात् ; न सर्वासु विद्यासु । अर्थवादस्थत्वात् न कचिद-
प्ययं शूद्रमधिकर्तुमुत्सहते । शक्यते चायं शूद्रशब्दोऽधि-
कृतविषये योजयितुम् ; कथमित्युच्यते— ' कम्बर एन-
मेतत्सन्तं सयुगवानमिव रैकमात्थ ' इत्यस्माद्धंसवाक्यादा-
त्मनोऽनादरं श्रुतवतो जानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुक् उत्पेदे ;
तामृषी रैकः शूद्रशब्देनानेन सूचयांबभूव आत्मनः परो-
क्षज्ञताख्यापनायेति गम्यते, जातिशूद्रस्यानधिकारात् । कथं
पुनः शूद्रशब्देन शुगुत्पन्ना सूच्यत इति, उच्यते— तदा-
द्रवणात् ; शुचमभिदुद्राव, शुचा वा अभिदुद्रुवे, शुचा वा रैक-
मभिदुद्राव— इति शूद्रः ; अवयवार्थसंभवात्, रूढ्यर्थस्य
चासंभवात् । दृश्यते चायमर्थोऽस्यामाख्यायिकायाम् ॥

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन
लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

इतश्च न जातिशूद्रो जानश्रुतिः ; यत्कारणं प्रकरणानि-
रूपणेन क्षत्रियत्वमस्योत्तरत्र चैत्ररथेनाभिप्रतारिणा क्षत्रियेण
समभिव्याहाराल्लिङ्गाद्भवत्यते । उत्तरत्र हि संवर्गविद्यावाक्य-
शेषे चैत्ररथिरभिप्रतारी क्षत्रियः संकीर्त्यते— ‘अथ ह शौनकं
च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं सूदेन परिविष्यमाणौ ब्र-
ह्मचारी विभिक्षे’ इति । चैत्ररथित्वं चाभिप्रतारिणः कापे-
ययोगादवगन्तव्यम् । कापेययोगो हि चित्ररथस्यावगतः
‘एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन्’ इति । समानान्व-
यानां च प्रायेण समानान्वया याजका भवन्ति । ‘तस्माच्चै-
त्ररथिर्नामैकः क्षत्रपतिरजायत’ इति च क्षत्रपतित्वावगमात्क्ष-
त्रियत्वमस्यावगन्तव्यम् । तेन क्षत्रियेणाभिप्रतारिणा, सह
समानायां संवर्गविद्यायां संकीर्तनं जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं
सूचयति । समानानामेव हि प्रायेण समभिव्याहारा भवन्ति ।
क्षत्रप्रेषणाद्यैश्वर्ययोगाच्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतिः । अतो
न शूद्रस्याधिकारः ॥

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलाषाच्च ॥ ३६ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः, यद्विद्याप्रदेशेषूपनयनादयः संस्काराः परामृश्यन्ते—‘तं होपनिन्ये’ ‘अधीहि भगव इति होपससाद’ ‘ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः’ इति च । ‘तान्हानुपनीयैव’ इत्यपि प्रदर्शितैवोपनयनप्राप्तिर्भवति । शूद्रस्य च संस्काराभावोऽभिलष्यते ‘शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः’ इत्येकजातित्वस्मरणात् । ‘न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति’ इत्यादिभिश्च ॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः; यत्सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावे निर्धारिते जाबालं गौतम उपनेतुमनुशासितुं च प्रवृत्ते—‘नैतद्ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगाः’ इति श्रुतिलिङ्गात् ॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः; यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति । वेदश्रवणप्रतिषेधः, वेदाध्ययनप्रतिषेधः, तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते । श्रवणप्रतिषेधस्तावत्—‘अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्र-

तिपूरणम्' इति; 'पद्यु ह वा एतच्छमशानं यच्छूद्रस्तस्मा-
च्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इति च । अत एवाध्ययनप्रतिषे-
धः; यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुत-
मधीयीत । भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीर-
भेद इति । अत एव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भ-
वति—'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति, 'द्विजातीनामध्यय-
नमिज्या दानम्' इति च । येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशा-
द्विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिः, तेषां न शक्यते फ-
लप्राप्तिः प्रतिषेद्धुम्, ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात् । 'श्रावयेच्चतुरो
वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्म-
रणान् । वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम् ॥

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

अवसितः प्रासङ्गिकोऽधिकारविचारः; प्रकृतामेवेदानीं
वाक्यार्थविचारणां प्रवर्तयिष्यामः । 'यदिदं किञ्च जग-
१०. कम्पना- त्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् । महद्भयं
धिकरणम् । वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरभृतास्ते भवन्ति'
इति— एतद्वाक्यम् 'एजृ कम्पने' इति धात्वर्थानुगमा-
ल्लक्षितम् । अस्मिन्वाक्ये सर्वमिदं जगत् प्राणाश्रयं स्पन्दते,
महच्च किञ्चिद्भयकारणं वज्रशब्दितमुद्यतम्, तद्विज्ञानाच्चाभृत-

त्वप्राप्तिरिति श्रूयते । तत्र, कोऽसौ प्राणः, किं तद्भयानकं वज्रम्, इत्यप्रतिपत्तेर्विचारे क्रियमाणे, प्राप्तं तावत्—प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिर्वायुः प्राण इति; प्रसिद्धेरेव चाशनिर्वज्रं स्यात्; वायोश्चेदं माहात्म्यं संकीर्त्यते; कथम्? सर्वमिदं जगत् पञ्चवृत्तौ वायौ प्राणशब्दिते प्रतिष्ठाय एजति; वायुनिमित्तमेव च महद्भयानकं वज्रमुद्यम्यते; वायौ हि पर्जन्यभावेन विवर्तमाने विद्युत्स्तनयित्त्वृष्टयशनयो विवर्तन्त इत्याचक्षते; वायुविज्ञानादेव चेदममृतत्वम्; तथा हि श्रुत्यन्तरम्—‘वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद’ इति; तस्माद्वायुरयमिह प्रतिपत्तव्यः इत्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः— ब्रह्मैवेदमिह प्रतिपत्तव्यम्; कुतः? पूर्वोत्तरालोचनात्; पूर्वोत्तरयोर्हि ग्रन्थभागयोर्ब्रह्मैव निर्दिश्यमानमुपलभामहे; इहैव कथमकस्मादन्तराले वायुं निर्दिश्यमानं प्रतिपद्येमहि? पूर्वत्र तावत् ‘तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन’ इति ब्रह्म निर्दिष्टम्; तदेव इहापि, संनिधानात्, ‘जगत्सर्वं प्राण एजति’ इति च लोकाश्रयत्वप्रत्यभिज्ञानात् निर्दिष्टमिति गम्यते; प्राणशब्दोऽप्ययं परमात्मन्येव प्रयुक्तः— ‘प्राणस्य प्राणम्’ इति

दर्शनात् । एजयितृत्वमपीदं परमात्मन एवोपपद्यते, न वायुमात्रस्य ; तथा चोक्तम्— ‘न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जिवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ’ इति ; उत्तरत्रापि ‘भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः’ इति ब्रह्मैव निर्देक्ष्यते, न वायुः, सवायुकस्य जगतो भयहेतुत्वाभिधानात् ; तदेव इहापि संनिधानात् ‘महद्भयं वज्रमुद्यतम्’ इति च भयहेतुत्वं प्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते ; वज्र-शब्दोऽप्ययं भयहेतुत्वसामान्यात्प्रयुक्तः ; यथा हि ‘वज्र-मुद्यतं ममैव शिरसि निपतेत्, यद्यहमस्य शासनं न कुर्याम्’ इत्यनेन भयेन जनो नियमेन राजादिशासने प्रवर्तते, एवमिदमग्निवायुसूर्यादिकं जगत् अस्मादेव ब्रह्मणो विभ्यत् नियमेन स्वव्यापारे प्रवर्तते इति— भयानकं वज्रोपमितं ब्रह्म । तथा च ब्रह्मविषयं श्रुत्यन्तरम्— ‘भीषास्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चमः’ इति । अमृतत्वफलश्रवणादपि ब्रह्मैवेदमिति गम्यते ; ब्रह्मज्ञानाद्धयमृतत्वप्राप्तिः, ‘तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय’ इति मन्त्रवर्णात् । यत्तु वायुविज्ञानात्कचिदमृतत्वमभिहितम्, तदापेक्षि-

कम्; तत्रैव प्रकरणान्तरकरणेन परमात्मानमभिधाय 'अतो-
ऽन्यदार्तम्' इति वाग्व्यादेरार्तत्वाभिधानात् । प्रकरणाद-
प्यत्र परमात्मनिश्चयः; 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रा-
स्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताञ्च भव्याञ्च यत्तत्पश्यसि
तद्वद' इति परमात्मनः पृष्टत्वात् ॥

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसं-
पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति श्रूयते । तत्र संशयते—
११. ज्योतिर- किं ज्योतिःशब्दं चक्षुर्विषयतमोपहं तेजः,
धिकरणम् । किं वा परं ब्रह्मेति । किं तावत्प्राप्तम् ?
प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति । कुतः ? तत्र ज्योतिः-
शब्दस्य रूढत्वात् । 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इत्यत्र हि
प्रकरणाज्ज्योतिःशब्दः स्वार्थं परित्यज्य ब्रह्माणि वर्तते; न
चेह तद्वर्तिकचित्स्वार्थपरित्यागे कारणं दृश्यते । तथा च
नाडीखण्डे— 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव
रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' इति मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता ।
तस्मात्प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति, एवं प्राप्ते—

ब्रूमः— परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दम्; कस्मात्? दर्श-

नात् । तस्य हीह प्रकरणे वक्तव्यत्वेनानुवृत्तिर्दृश्यते; 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकस्यात्मनः प्रकरणादावन्वेष्टव्यत्वेन विजिज्ञासितव्यत्वेन च प्रतिज्ञानात्; 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इति चानुसंधानात्; 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' इति चाशरीरतायै ज्योतिःसंपत्तेरस्याभिधानात्; ब्रह्मभावाच्चान्यत्राशरीरतानुपपत्तेः; 'परं ज्योतिः' 'स उत्तमः पुरुषः' इति च विशेषणात् । यत्तूक्तं मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहितेति, नासावात्यन्तिको मोक्षः, गत्युत्क्रान्तिसंबन्धात् । न ह्यात्यन्तिके मोक्षे गत्युत्क्रान्ती स्त इति वक्ष्यामः ॥

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिद्व्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' इति श्रूयते । तत्किमाकाशशब्दं १२. अर्थान्तरत्वा- परं ब्रह्म, किं वा प्रसिद्धमेव भूताकाशमिदिव्यपदेशा- ति विचारे—भूतपरिग्रहो युक्तः; आकाधिकरणम् । शशब्दस्य तस्मिन् रूढत्वात्; नामरूपनिर्वहणस्य चावकाशदानद्वारेण तस्मिन्योजयितुं शक्यत्वात्; स्रष्टृत्वादेश्च स्पष्टस्य ब्रह्मलिङ्गस्याश्रवणादित्येवं प्राप्ते—

इदमुच्यते—परमेव ब्रह्म इहाकाशशब्दं भवितुमर्हति;

कस्मात्? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । ‘ते यदन्तरा तद्ब्रह्म’ इति हि नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतमाकाशं व्यपदिशति; न च ब्रह्मणोऽन्यन्नामरूपाभ्यामर्थान्तरं संभवति, सर्वस्य विकारजातस्य नामरूपाभ्यामेव व्याकृतत्वात्; नामरूपयोरपि निर्वहणं निरङ्कुशं न ब्रह्मणोऽन्यत्र संभवति, ‘अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि’ इति ब्रह्मकर्तृकत्वश्रवणात् । ननु जीवस्यापि प्रत्यक्षं नामरूपविषयं निर्वोदत्वमस्ति; बाढमस्ति; अभेदस्त्वह विवक्षितः । नामरूपनिर्वहणाभिधानादेव च स्मृत्वादि ब्रह्मलिङ्गमभिहितं भवति । ‘तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा’ इति च ब्रह्मवादस्य लिङ्गानि । ‘आकाशस्तलिङ्गात्’ इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः ॥

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

व्यपदेशादित्यनुवर्तते । बृहदारण्यके षष्ठे प्रपाठके ‘क-
तम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तज्योतिः

१३. सुषुप्त्यधि- पुरुषः’ इत्युपक्रम्य भूयानात्मविषयः प्र-
करणम् । पञ्चः कृतः । तंकिं संसारिस्वरूपमात्रा-

न्वाख्यानपरं वाक्यम्, उतासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमिति
विशयः । किं तावत्प्राप्तम्? संसारिस्वरूपमात्रविषय-
मेवेति; कुतः? उपक्रमोपसंहाराभ्याम्, उपक्रमे ‘योऽयं

विज्ञानमयः प्राणेषु' इति शारीरलिङ्गात्; उपसंहारे च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति तदपरिख्यागात्; मध्येऽपि बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेन तस्यैव प्रपञ्चनादित्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः— परमेश्वरोपदेशपरमेवेदं वाक्यम्, न शारीरमात्रान्वाख्यानपरम्; कस्मात्? सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शारीराद्भेदेन परमेश्वरस्य व्यपदेशात् । सुषुप्तौ तावत् 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' इति शारीराद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति; तत्र पुरुषः शारीरः स्यात्, तस्य वेदितृत्वात्; बाह्याभ्यन्तरवेदनप्रसङ्गे सति तत्प्रतिषेधसंभवात्; प्राज्ञः परमेश्वरः, सर्वज्ञत्वलक्षणया प्रज्ञया नित्यमवियोगात् । तथोत्क्रान्तावपि 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति' इति जीवाद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति; तत्रापि शारीरो जीवः स्यात्, शरीरस्वामित्वात्; प्राज्ञस्तु स एव परमेश्वरः । तस्मात्सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन व्यपदेशात्परमेश्वर एवात्र विवक्षित इति गम्यते । यदुक्तमाद्यन्तमध्येषु शारीरलिङ्गात् तत्परत्वमस्य वाक्यस्येति, अत्र ब्रूमः— उपक्रमे तावत् 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति न संसारिस्वरूपं विवक्षितम्;

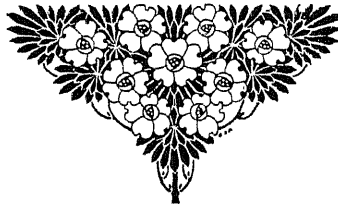
किं तर्हि, अनूद्य संसारिस्वरूपं परेण ब्रह्मणास्यैकतां विवक्षति; यतः 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्येवमाद्युत्तर-ग्रन्थप्रवृत्तिः संसारिधर्मनिराकरणपरा लक्ष्यते; तथोपसंहारेऽपि यथोपक्रममेवोपसंहरति—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति; योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु संसारी लक्ष्यते, स वा एष महानज आत्मा परमेश्वर एवास्माभिः प्रतिपादित इत्यर्थः; यस्तु मध्ये बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासात्संसारिस्वरूपविवक्षां मन्यते, स प्राचीमपि दिशं प्रस्थापितः प्रतीचीमपि दिशं प्रतिष्ठेत; यतो न बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेनावस्थावत्त्वं संसारित्वं वा विवक्षति, किं तर्हि, अवस्थारहितत्वमसंसारित्वं च; कथमेतदवगम्यते? यत् 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति पदे पदे पृच्छति; यच्च 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति पदे पदे प्रतिवक्ति; 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वांशोकान्हृदयस्य भवति' इति च । तस्मादसंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम् ॥

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

इतश्चासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम्; यदस्मिन्वाक्ये पत्यादयः शब्दा असंसारिस्वरूपप्रति-

पादनपराः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाश्च भवन्ति— ‘सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः’ इत्येवंजातीयका असंसारिस्वभावप्रतिपादनपराः ; ‘स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्’ इत्येवंजातीयकाः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाः । तस्मादसंसारी परमेश्वर इहोक्त इत्यवगम्यते ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द-
 भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ
 शारीरकमीमांसासूत्रभाष्ये
 प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥



श्रीमच्छंकरभगवत्पादैर्विरचितम्

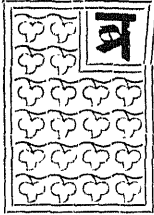
॥ ब्रह्मसूत्रभाष्यम् ॥

प्रथमाध्याये

चतुर्थः पादः

ॐ

चतुर्थः पादः ॥



ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो लक्षणमु-
क्तम्— 'जन्माद्यस्य यतः' इति । तल्लक्षणं
प्रधानस्यापि समानमित्याशङ्क्य तदशब्दत्वेन
निराकृतम्— 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इति ।
गतिसामान्यं च वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मकारणवादं प्रति विद्यते,
न प्रधानकारणवादं प्रतीति प्रपञ्चितं गतेन ग्रन्थेन । इदं
त्विदानीमवशिष्टमाशङ्क्यते—यदुक्तं प्रधानस्याशब्दत्वम्, त-
दसिद्धम्, कासुचिच्छाखासु प्रधानसमर्पणाभासानां शब्दानां
श्रूयमाणत्वात्; अतः प्रधानस्य कारणत्वं वेदसिद्धमेव महद्भिः
परमर्षिभिः कपिलप्रभृतिभिः परिगृहीतमिति प्रसज्यते;
तद्यावत्तेषां शब्दानामन्यपरत्वं न प्रतिपाद्यते, तावत्सर्वज्ञं
ब्रह्म जगतः कारणमिति प्रतिपादितमप्याकुलीभवेत्; अतस्ते-
षामन्यपरत्वं दर्शयितुं परः संदर्भः प्रवर्तते ॥

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरी- ररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

आनुमानिकमपि अनुमाननिरूपितमपि प्रधानम्, एकेषां शाखिनां शब्दवदुपलभ्यते; काठके हि पठ्यते— 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' इति; तत्र य एव यन्नामानो

१. आनुमानिका- यत्क्रमाश्च महदव्यक्तपुरुषाः स्मृतिप्रसिद्धाः, धिकरणम् । त एवेह प्रत्यभिज्ञायन्ते; तत्राव्यक्तमिति स्मृतिप्रसिद्धेः, शब्दादिहीनत्वाच्च न व्यक्तमव्यक्तमिति व्युत्पत्तिसंभवात्, स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानमभिधीयते; अतस्तस्य शब्दवत्त्वादशब्दत्वमनुपपन्नम्; तदेव च जगतः कारणं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्य इति चेत्, नैतदेवम्— न ह्येतत्काठकवाक्यं स्मृतिप्रसिद्धयोर्महदव्यक्तयोरस्तित्वपरम् । न ह्यत्र यादृशं स्मृतिप्रसिद्धं स्वतन्त्रं कारणं त्रिगुणं प्रधानम्, तादृशं प्रत्यभिज्ञायते; शब्दमात्रं ह्यत्राव्यक्तमिति प्रत्यभिज्ञायते; स च शब्दः— न व्यक्तमव्यक्तमिति— यौगिकत्वात् अन्यस्मिन्नपि सूक्ष्मे सुदुर्लक्ष्ये च प्रयुज्यते; न चायं कस्मिंश्चिद्गूढः; या तु प्रधानवादिनां रूढिः, सा तेषामेव पारिभाषिकी सती न वेदार्थनिरूपणे कारणभावं प्रतिपद्यते; न च क्रममात्रसामान्यात्समानार्थप्रतिपत्तिर्भ-

वति, असति तद्रूपप्रत्यभिज्ञाने; न ह्यश्वस्थाने गां. पश्यन्न-
 श्रोऽयमित्यमूढोऽध्यवस्यति । प्रकरणनिरूपणायां चात्र न
 परपरिकल्पितं प्रधानं प्रतीयते, शरीररूपकविन्यस्तगृहीते; ;
 शरीरं ह्यत्र रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन परिगृह्यते;
 कुतः? प्रकरणान् परिशेषाच्च । तथा ह्यनन्तरातीतो ग्रन्थ
 आत्मशरीरादीनां रथिरथादिरूपककल्पिं दर्शयति— ‘ आ-
 त्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं
 विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि ह्यानाहुर्विषयांस्तेषु
 गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः’ इति ;
 तैश्चेन्द्रियादिभिरसंयतैः संसारमधिगच्छति, संयतैस्त्वध्वनः
 पारं तद्विष्णोः परमं पदमाप्नोति—इति दर्शयित्वा, किं त-
 दध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायाम्, तेभ्य
 एव प्रकृतेभ्यः इन्द्रियादिभ्यः परत्वेन परमात्मानमध्वनः
 पारं तद्विष्णोः परमं पदं दर्शयति—‘इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था
 अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महा-
 न्परः ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न
 परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः’ इति; तत्र य एवे-
 न्द्रियादयः पूर्वस्यां रथरूपककल्पनायामश्वादिभावेन प्रकृताः,
 त. एवेह परिगृह्यन्ते, प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियापरिहाराय । तत्र

इन्द्रियमनोबुद्धयस्तावत्पूर्वत्र इह च समानशब्दा एव ; अर्थास्तु ये शब्दादयो विषया इन्द्रियहयगोचरत्वेन निर्दिष्टाः, तेषां चेन्द्रियेभ्यः परत्वम्, इन्द्रियाणां च ग्रहत्वं विषयाणामतिग्रहत्वम् इति श्रुतिप्रसिद्धेः ; विषयेभ्यश्च मनसः परत्वम्, मनोमूलत्वाद्विषयेन्द्रियव्यवहारस्य ; मनसस्तु परा बुद्धिः— बुद्धिं ह्यारुह्य भोग्यजातं भोक्तारमुपसर्पति ; बुद्धेरात्मा महान्परः— यः, सः ‘आत्मानं रथिनं विद्धि’ इति रथित्वेनोपक्षिप्तः । कुतः ? आत्मशब्दात्, भोक्तुश्च भोगोपकरणात्परत्वोपपत्तेः ; महत्त्वं चास्य स्वामित्वादुपपन्नम् ; अथवा— ‘मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्वबुद्धिः ख्यातिरीश्वरः । प्रज्ञा संविच्चित्तिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्यते’ इति स्मृतेः, ‘यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै’ इति च श्रुतेः । या प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः, सा सर्वासां बुद्धीनां परमा प्रतिष्ठा ; सेह महानात्मेत्युच्यते ; सा च पूर्वत्र बुद्धिग्रहणेनैव गृहीता सती हिरुगिहोपदिश्यते, तस्या अप्यस्मदीयाभ्यो बुद्धिभ्यः परत्वोपपत्तेः ; एतस्मिस्तु पक्षे परमात्मविषयेणैव परेण पुरुषग्रहणेन रथिन आत्मनो ग्रहणं द्रष्टव्यम्, परमार्थतस्तु परमात्मविज्ञानात्मनोर्भेदाभावात् ; तदेवं शरीरमेवैकं परिशिष्यते ; तेष्वितराणीन्द्रियादीनि प्रकृतान्येव परमपददिदर्श-

यिषया समनुक्रामन्परिशिष्यमाणेनेहान्त्येनाव्यक्तशब्देन परि-
 शिष्यमाणं प्रकृतं शरीरं दर्शयतीति गम्यते । शरीरेन्द्रियम-
 नोबुद्धिविषयवेदनासंयुक्तस्य ह्यविद्यावतो भोक्तुः शरीरादीनां
 रथादिरूपककल्पनया संसारमोक्षगतिनिरूपणेन प्रत्यगात्म-
 ब्रह्मावगतिरिह विवक्षिता; तथा च ‘एष सर्वेषु भूतेषु गू-
 ढोऽत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सू-
 क्ष्मदर्शिभिः’ इति वैष्णवस्य परमपदस्य दुरवगमत्वमुक्त्वा
 तदवगमार्थं योगं दर्शयति— ‘यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्य-
 च्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छे-
 च्छान्त आत्मनि’ इति; एतदुक्तं भवति— वाचं मनसि
 संयच्छेत् वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणाव-
 तिष्ठेत; मनोऽपि विषयविकल्पाभिमुखं विकल्पदोषदर्शनेन
 ज्ञानशब्दोदितायां बुद्ध्यावध्यवसायस्वभावायां धारयेत्; ता-
 मपि बुद्धिं महत्यात्मनि भोक्तारि अग्र्यायां वा बुद्धौ सूक्ष्म-
 तापादनेन नियच्छेत्; महान्तं त्वात्मानं शान्त आत्मनि प्र-
 करणवति परस्मिन्पुरुषे परस्यां काष्ठायां प्रतिष्ठापयेदिति च ।
 तदेवं पूर्वापरालोचनायां नास्त्यत्र परपरिकल्पितस्य प्रधान-
 स्यावकाशः ॥

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

उक्तमेतत्—प्रकरणपरिशेषाभ्यां शरीरमव्यक्तशब्दम्, न प्रधानमिति; इदमिदानीमाशङ्क्यते—कथमव्यक्तशब्दार्हत्वं शरीरस्य, यावता स्थूलत्वात्स्पष्टतरमिदं शरीरं व्यक्तशब्दार्हम्, अस्पष्टवचनस्त्वव्यक्तशब्द इति; अत उत्तरमुच्यते—सूक्ष्मं तु इह कारणात्मना शरीरं विवक्ष्यते, सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्; यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूतसूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति; प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः—यथा ‘गोभिः श्रीणीत मत्सरम्’ इति; श्रुतिश्च— ‘तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्’ इतीदमेव व्याकृतनामरूपविभिन्नं जगत्प्रागवस्थायां परित्यक्तव्याकृतनामरूपं बीजशक्यवस्थमव्यक्तशब्दयोग्यं दर्शयति ॥

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

अत्राह— यदि जगदिदमनभिव्यक्तनामरूपं बीजात्मकं प्रागवस्थमव्यक्तशब्दार्हमभ्युपगम्येत, तदात्मना च शरीरस्याप्यव्यक्तशब्दार्हत्वं प्रतिज्ञायेत, स एव तर्हि प्रधानकारणत्वाद् एवं सत्यापद्येत; अस्यैव जगतः प्रागवस्थायाः प्रधानत्वेनाभ्युपगमादिति । अत्रोच्यते—यदि वयं स्वतन्त्रां कांचित्प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम, प्रसञ्जयेम

तदा प्रधानकारणवादम् ; परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रा-
गवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते, न स्वतन्त्रा ; सा चावश्या-
भ्युपगन्तव्या ; अर्थवती हि सा ; न हि तया विना परमे-
श्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति, शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः ;
मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः ; कुतः ? विद्यया तस्या बीज-
शक्तेर्दाहान् ; अविद्यात्मिका हि सा बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनि-
र्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्र-
तिबोधरहिताः शेरत्वे संसारिणो जीवाः ; तदेतदव्यक्तं
क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम्— ‘एतस्मिन्नु खत्वक्षरे गार्ग्या-
काश ओतश्च प्रोतश्च’ इति श्रुतेः ; क्वचिदक्षरशब्दोदितम्—
‘अक्षरात्परतः परः’ इति श्रुतेः ; क्वचिन्मायेति सूचितम्
— ‘मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्’ इति
मन्त्रवर्णात् ; अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपण-
म्याशक्यत्वान् ; तदिदं महतः परमव्यक्तमित्युक्तम्—अव्य-
क्तप्रभवत्वान्महतः, यदा हैरण्यगर्भी बुद्धिर्महान् ; यदा तु
जीवो महान् ; तदाप्यव्यक्ताधीनत्वाज्जीवभावस्य— महतः
परमव्यक्तमित्युक्तम् ; अविद्या ह्यव्यक्तम् ; अविद्यावत्त्वेनैव
जीवस्य सर्वः संव्यवहारः संततो वर्तते ; तच्च अव्यक्तगतं
महतः परत्वमभेदोपचारात्तद्विकारे शरीरे परिकल्प्यते ; सत्यपि

शरीरवदिन्द्रियादीनां तद्विकारत्वाविशेषे शरीरस्यैवाभेदोप-
चारादव्यक्तशब्देन ग्रहणम्, इन्द्रियादीनां स्वशब्दैरेव गृही-
तत्वात्, परिशिष्टत्वाच्च शरीरस्य ॥

अन्ये तु वर्णयन्ति— द्विविधं हि शरीरं स्थूलं सूक्ष्मं
च; स्थूलम्, यदिदमुपलभ्यते; सूक्ष्मम्, यदुत्तरत्र वक्ष्यते—
'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्'
इति; तच्चोभयमपि शरीरमविशेषात्पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्ति-
तम्; इह तु सूक्ष्ममव्यक्तशब्देन परिगृह्यते, सूक्ष्मस्याव्यक्त-
शब्दाहृत्वात्; तदधीनत्वाच्च बन्धमोक्षव्यवहारस्य जीवा-
त्तस्य परत्वम्; यथार्थाधीनत्वादिन्द्रियव्यापारस्येन्द्रियेभ्यः
परत्वमर्थानामिति । तैस्त्वेतद्व्यक्तव्यम्— अविशेषेण शरीर-
द्वयस्य पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितत्वात्, समानयोः प्रकृतत्व-
परिशिष्टत्वयोः, कथं सूक्ष्ममेव शरीरमिह गृह्यते, न पुनः
स्थूलमपीति । आम्नातस्यार्थं प्रतिपत्तुं प्रभवामः, नाम्नातं
पर्यनुयोक्तुम्, आम्नातं चाव्यक्तपदं सूक्ष्ममेव प्रतिपादयितुं
शक्नोति, नेतरत्, व्यक्तत्वान्तस्येति चेत्, न; एकवाक्य-
ताधीनत्वादर्थप्रतिपत्तेः; न हीमे पूर्वोत्तरे आम्नाते एकवा-
क्यतामनापद्य कंचिदर्थं प्रतिपादयतः; प्रकृतहानाप्रकृत-
प्रक्रियाप्रसङ्गात्; न चाकाङ्क्षामन्तरेणैकवाक्यताप्रतिपत्ति-

रस्ति ; तत्राविशिष्टायां शरीरद्वयस्य ग्राह्यत्वाकाङ्क्षायां यथा-
काङ्क्षं संबन्धेऽनभ्युपगम्यमाने एकवाक्यतैव बाधिता भवति,
कुत आम्लातस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः ? न चैवं मन्तव्यम्—दुःशो-
धत्वात्सूक्ष्मस्यैव शरीरस्येह ग्रहणम्, स्थूलस्य तु दृष्टवीभत्स-
तया सुशोधत्वादग्रहणमिति ; यतो नैवेह शोधनं कस्यचि-
द्विवक्ष्यते ; न ह्यत्र शोधनविधायि किञ्चिदाख्यातमस्ति ;
अनन्तरनिर्दिष्टत्वात्तु किं तद्विष्णोः परमं पदमितीदमिह
विवक्ष्यते ; तथाहीदमस्मात्परमिदमस्मात्परमित्युक्त्वा, 'पुरु-
षान्न परं किञ्चित्' इत्याह ; सर्वथापि त्वानुमानिकनिराकर-
णोपपत्तेः, तथा नामास्तु ; न नः किञ्चिच्छ्रयते ॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते, गुणपुरुषान्तरज्ञाना-
त्कैवल्यमिति—वदद्भिः—न हि गुणस्वरूपमज्ञात्वा गुणे-
भ्यः पुरुषस्यान्तरं शक्यं ज्ञातुमिति ; क्वचिच्च विभूतिविशेष-
प्राप्तये प्रधानं ज्ञेयमिति स्मरन्ति ; न चेदमिहाव्यक्तं ज्ञेयत्वे-
नोच्यते ; पदमात्रं ह्यव्यक्तशब्दः, नेहाव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासि-
तव्यं चेति वाक्यमस्ति ; न चानुपदिष्टं पदार्थज्ञानं पुरुषार्थ-
मिति शक्यं प्रतिपत्तुम् ; तस्मादपि नाव्यक्तशब्देन प्रधान-
मभिधीयते ; अस्माकं तु रथरूपकक्लृप्तशरीराद्यनुसरणेन

विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम् ॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

अत्राह सांख्यः—ज्ञेयत्वावचनात्, इत्यसिद्धम्; कथम्? श्रूयते ह्युत्तरत्राव्यक्तशब्दोदितस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्ववचनम्—‘अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते’ इति; अत्र हि यादृशं शब्दादिहीनं प्रधानं महतः परं स्मृतौ निरूपितम्, तादृशमेव निचाय्यत्वेन निर्दिष्टम्; तस्मात्प्रधानमेवेदम्; तदेव चाव्यक्तशब्दनिर्दिष्टमिति । अत्र ब्रूमः—नेह प्रधानं निचाय्यत्वेन निर्दिष्टम्; प्राज्ञो हीह परमात्मा निचाय्यत्वेन निर्दिष्ट इति गम्यते; कुतः? प्रकरणात्; प्राज्ञस्य हि प्रकरणं विततं वर्तते—‘पुरुषात् परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः’ इत्यादिनिर्देशात्, ‘एष सर्वेषु भूतेषु गुढोऽत्मा न प्रकाशते’ इति च दुर्ज्ञानत्ववचनेन तस्यैव ज्ञेयत्वाकाङ्क्षाणात्, ‘यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः’ इति च तज्ज्ञानायैव वागादिसंयमस्य विहितत्वात्, मृत्युमुखप्रमोक्षणफलत्वाच्च; न हि प्रधानमात्रं निचाय्य मृत्युमुखात्प्रमुच्यत इति सांख्यैरिष्यते; चेतनात्मविज्ञानाद्धि मृत्युमुखात्प्रमुच्यत इति तेषामभ्युपगमः; सर्वेषु वेदान्तेषु प्राज्ञस्यैवात्मनोऽशब्दादि-

धर्मत्वमभिलष्यते ; तस्मान्न प्रधानस्यात्र ज्ञेयत्वमव्यक्तशब्द-
निर्दिष्टत्वं वा ॥

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

इतश्च न प्रधानस्याव्यक्तशब्दवान्यत्वं ज्ञेयत्वं वा ; य-
स्मान्त्रयाणामेव पदार्थानामग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे क-
ठवह्नीषु वरप्रदानसामर्थ्याद्व्यक्तव्यतयोपन्यासो दृश्यते ; तद्वि-
षय एव च प्रश्नः ; नातोऽन्यस्य प्रश्न उपन्यासो वास्ति ; तत्र
तावत् ‘स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्धधानाय
मह्यम्’ इत्यग्निविषयः प्रश्नः ; ‘येयं प्रेते विचिकित्सा मनु-
ष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः’ इति जीवविषयः प्रश्नः ; ‘अन्यत्र ध-
र्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताञ्च भव्याञ्च
यत्तत्पश्यसि तद्वद्’ इति परमात्मविषयः ; प्रतिवचनमपि—
‘लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा’
इत्यग्निविषयम् ; ‘हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनात-
नम् । यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम । योनि-
मन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति
यथाकर्म यथाश्रुतम्’ इति व्यवहितं जीवविषयम् ; ‘न जा-
यते म्रियते वा विपश्चित्’ इत्यादिवहुप्रपञ्चं परमात्मविषय-

म् । नैवं प्रधानविषयः प्रश्नोऽस्ति । अपृष्टत्वाच्चानुपन्यसनी-
यत्वं तस्येति ॥

अत्राह—योऽयमात्मविषयः प्रश्नः—‘येयं प्रेते विचि-
कित्सा मनुष्येऽस्ति’ इति, किं स एवायम् ‘अन्यत्र धर्मा-
दन्यत्राधर्मान्’ इति पुनरनुकृष्यते, किं वा ततोऽन्योऽयम-
पूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इति । किं चातः? स एवायं प्रश्नः
पुनरनुकृष्यत इति यद्युच्येत, तदा द्वयोरात्मविषययोः प्रश्नयो-
रेकतापत्तेरग्निविषय आत्मविषयश्च द्वावेव प्रश्नावित्यतो न व-
क्तव्यं त्रयाणां प्रश्नोपन्यासाविति ; अथान्योऽयमपूर्वः प्रश्न उ-
त्थाप्यत इत्युच्येत, ततो यथैव वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नक-
ल्पनायामदोषः ; एवं प्रश्नव्यतिरेकेणापि प्रधानोपन्यासकल्प-
नायामदोषः स्यादिति ॥

अत्रोच्यते— नैवं वयमिह वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नं
कंचित्कल्पयामः, वाक्योपक्रमसामर्थ्यात् ; वरप्रदानोपक्रमा
हि मृत्युनचिकेतःसंवादरूपा वाक्यप्रवृत्तिः आ समाप्तेः कठव-
ल्लीनां लक्ष्यते ; मृत्युः किल नचिकेतसे पित्रा प्रहिताय
वीन्वरान्प्रददौ ; नचिकेताः किल तेषां प्रथमेन वरेण पितुः
सौमनस्यं वत्रे, द्वितीयेनाग्निविद्याम्, तृतीयेनात्मविद्याम्—
‘येयं प्रेते’ इति ‘वराणामेष वरस्तृतीयः’ इति लिङ्गात् ।

तत्र यदि 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्था-
 प्येत, ततो वरप्रदानव्यतिरेकेणापि प्रश्नकल्पनाद्वाक्यं वा-
 ध्येत । ननु प्रष्टव्यभेदादपूर्वोऽयं प्रश्नो भवितुमर्हति ; अपूर्वो
 हि प्रश्नो जीवविषयः, येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ति
 नास्तीति विचिकित्साभिधानात् ; जीवश्च धर्मादिगोचर-
 त्वात् न 'अन्यत्र धर्मात्' इति प्रश्नमर्हति ; प्राज्ञस्तु धर्मा-
 द्यतीतत्वात् 'अन्यत्र धर्मात्' इति प्रश्नमर्हति ; प्रश्नच्छाया
 च न समाना लक्ष्यते, पूर्वस्यास्तित्वनास्तित्वविषयत्वात्,
 उत्तरस्य धर्माद्यतीतवस्तुविषयत्वाच्च ; तस्मात्प्रत्यभिज्ञानाभा-
 वात्प्रश्नभेदः ; न पूर्वस्यैवोत्तरत्रानुकर्षणमिति चेत्, न ;
 जीवप्राज्ञयोरेकत्वाभ्युपगमात् ; भवेत्प्रष्टव्यभेदात्प्रश्नभेदो य-
 दन्यो जीवः प्राज्ञात्स्यात् ; न त्वन्यत्वमस्ति, 'तत्त्वमसि'
 इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः ; इह च 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यस्य प्रश्नस्य
 प्रतिवचनम् 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इति जन्म-
 मरणप्रतिषेधेन प्रतिपाद्यमानं शारीरपरमेश्वरयोरभेदं दर्श-
 यति ; सति हि प्रसङ्गे प्रतिषेधो भागी भवति ; प्रसङ्गश्च जन्म-
 मरणयोः शरीरसंस्पर्शाच्छारीरस्य भवति, न परमेश्वरस्य ;
 तथा— 'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
 महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' इति स्वप्न-

जागरितदृशो जीवस्यैव महत्त्वविभुत्वविशेषणस्य मननेन शोकविच्छेदं दर्शयन्न प्राज्ञादन्यो जीव इति दर्शयति ; प्राज्ञ-
विज्ञानाद्धि शोकविच्छेद इति वेदान्तसिद्धान्तः ; तथाप्रे—
‘यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति
य इह नानेव पश्यति’ इति जीवप्राज्ञभेददृष्टिमपवदति ;
तथा जीवविषयस्यास्तित्वनास्तित्वप्रश्रयानन्तरम् ‘अन्यं वरं
नचिकेतो वृणीष्व’ इत्यारभ्य मृत्युना तैस्तैः कामैः प्रलोभ्यमा-
नोऽपि नचिकेता यदा न चचाल, तदैवं मृत्युरभ्युदयनिः-
श्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन च ‘विद्या-
भीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त’
इति प्रशस्य प्रश्रमपि तदीयं प्रशंसन्यदुवाच—‘तं दुर्दर्शं गूढमनु-
प्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति’ इति, तेनापि जीवप्राज्ञयोरभेद
एवेह विवक्षित इति गम्यते ; यत्प्रश्रनिमित्तां च प्रशंसां
महर्ता मृत्योः प्रत्यपद्यत नचिकेताः, यदि तं विहाय प्रशंसा-
नन्तरमन्यमेव प्रश्रमुपक्षिपेत्, अस्थान एव सा सर्वा प्रशंसा
प्रसारिता स्यात् ; तस्मात् ‘येयं प्रेते’ इत्यस्यैव प्रश्रस्यैतद-
नुकर्षणम् ‘अन्यत्र धर्मात्’ इति । यत्तु प्रश्रच्छायावैलक्ष-
ण्यमुक्तम्, तददूषणम्, तदीयस्यैव विशेषस्य पुनः पृच्छय-

मानत्वात्; पूर्वत्र हि देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वं पृष्टम्, उत्तरत्र तु तस्थैवासंसारित्वं पृच्छयत इति; यावद्धयविद्या न निवर्तते, तावद्धर्मादिगोचरत्वं जीवस्य जीवत्वं च न निवर्तते, तन्निवृत्तौ तु प्राज्ञ एव 'तत्त्वमसि' इति श्रुत्या प्रत्याग्यते; न चाविद्यावत्त्वे तदपगमे च वस्तुनः कश्चिद्विशेषोऽस्ति; यथा कश्चित्संतमसे पतितान् कांचिद्रज्जुमहिं मन्यमानो भीतो वेपमानः पलायते, तं चापरो ब्रूयात् 'मा भैषीः नायमहिः रज्जुरेवेति, स च तदुपश्रुत्याहिकृतं भयमुत्सृजेद्वेपथुं पलायनं च, न त्वहिबुद्धिकाले तदपगमकाले च वस्तुनः कश्चिद्विशेषः स्यात्—तथैवैतदपि द्रष्टव्यम्; ततश्च 'न जायते म्रियते वा' इत्येवमाद्यपि भवत्यस्तित्वनास्तित्वप्रश्नस्य प्रतिवचनम् । सूत्रं त्वविद्याकल्पितजीवप्राज्ञभेदापेक्षया योजयितव्यम्—एकत्वेऽपि ह्यात्मविषयस्य प्रश्नस्य प्रायणावस्थायां देहव्यतिरिक्तास्तित्वमालविचिकित्सनात्कर्तृत्वादिसंसारस्वभावानपोहनाच्च पूर्वस्य पर्यायस्य जीवविषयत्वमुत्प्रेक्ष्यते, उत्तरस्य तु धर्माद्यत्यसंकीर्तनात्प्राज्ञविषयत्वमिति । ततश्च युक्ता अग्निजीवपरमात्मकल्पना; प्रधानकल्पनायां तु न वरप्रदानं न प्रश्नो न प्रतिवचनमिति वैषम्यम् ॥

महद्वच ॥ ७ ॥

यथा महच्छब्दः सांख्यैः सत्तामात्रेऽपि प्रथमजे प्रयुक्तः, न तमेव वैदिकेऽपि प्रयोगेऽभिधत्ते, 'बुद्धेरात्मा महा-
 न्परः' 'महान्तं विभुमात्मानम्' 'वेदाहमेतं पुरुषं महा-
 न्तम्' इत्येवमादावात्मशब्दप्रयोगादिभ्यो हेतुभ्यः; तथा-
 व्यक्तशब्दोऽपि न वैदिके प्रयोगे प्रधानमभिधातुमर्हति ।
 अतश्च नास्त्यानुमानिकस्य शब्दवत्त्वम् ॥

चमसचदविशेषात् ॥ ८ ॥

पुनरपि प्रधानवादी अशब्दत्वं प्रधानस्यासिद्धमित्याह; क-
 स्मान्? मन्त्रवर्णात्— 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः
 २. चमसाधि प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको
 करणम् । जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगाम-
 जोऽन्यः' इति; अत्र हि मन्त्रे लोहितशुक्लकृष्णशब्दैः रजः-
 सत्त्वतमांस्यभिधीयन्ते; लोहितं रजः, रञ्जनात्मकत्वात्,
 शुक्लं सत्त्वम्, प्रकाशात्मकत्वात्; कृष्णं तमः, आवरणात्म-
 कत्वात्; तेषां साम्यावस्था अवयवधर्मैर्व्यपदिश्यते—लोहि-
 तशुक्लकृष्णेति; न जायत इति च अजा स्यात्, 'मूलप्रकृति-
 रविकृतिः' इत्यभ्युपगमात्; नन्वजाशब्दश्लार्ग्यां रूढः;
 बाढम्; सा तु रूढिरिह नाश्रयितुं शक्या, विद्याप्रकरणात्;
 सा च बह्वीः प्रजास्त्रैगुण्यांन्विता जनयति; तां प्रकृतिमज

एकः पुरुषो जुषमाणः प्रीयमाणः सेवमानो वा अनुशेते—
तामेवाविद्यया आत्मत्वेनोपगम्य सुखी दुःखी मूढोऽहमित्य-
विवेकितया संसरति ; अन्यः पुनरजः पुरुष उत्पन्नविवेक-
ज्ञानो विरक्तो जहात्येनां प्रकृतिं भुक्तभोगां कृतभोगापवर्गां
परित्यजति— मुच्यत इत्यर्थः ; तस्माच्छ्रुतिमूलैव प्रधाना-
दिकल्पना कापिलानामित्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः—नानेन मन्त्रेण श्रुतिमत्त्वं सांख्यवादस्य शक्य-
माश्रयितुम् ; न ह्ययं मन्त्रः स्वातन्त्र्येण कंचिदपि वादं सम-
र्थयितुमुत्सहते, सर्वत्रापि यथा कयाचित्कल्पनया अजात्वादि-
संपादनोपपत्तेः, सांख्यवाद एवेहाभिप्रेत इति विशेषावधारण-
कारणाभावात् । चमसवत्—यथा हि ‘अर्वाग्विलश्चमस ऊ-
र्ध्वबुध्नः’ इत्यस्मिन्मन्त्रे स्वातन्त्र्येणायं नामासौ चमसोऽभि-
प्रेत इति न शक्यते नियन्तुम्, सर्वत्रापि यथाकथंचिद्-
र्वाग्विलत्वादिकल्पनोपपत्तेः, एवमिहाप्यविशेषः ‘अजामेकाम्’
इत्यस्य मन्त्रस्य ; नास्मिन्मन्त्रे प्रधानमेवाजाभिप्रेतेति शक्य-
ते नियन्तुम् ॥

तत्र तु ‘इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः’
इति वाक्यशेषाच्चमसविशेषप्रतिपत्तिर्भवति ; इह पुनः केय-
मजा प्रतिपत्तव्येत्यत्र ब्रूमः—

ज्योतिरूपक्रमा तु तथा ह्यधीयत

एके ॥ ९ ॥

परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्धलक्षणा चतुर्वि-
धस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या । तु-शब्दो-
ऽवधारणार्थः—भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया, न गुणत्रयल-
क्षणा । कस्मात्? तथा ह्येके शाखिनस्तेजोबन्धानां परमेश्वरा-
दुत्पत्तिमात्राय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—‘यदग्ने
रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य’
इति; तान्येवेह तेजोबन्धानि प्रत्यभिज्ञायन्ते, रोहितादिश-
ब्दसामान्यात्, रोहितादीनां च शब्दानां रूपविशेषेषु मुख्य-
त्वाद्भाक्त्वाच्च गुणविषयत्वस्य; असंदिग्धेन च संदिग्धस्य
निगमनं न्याय्यं मन्यन्ते । तथेहापि ‘ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।
किंकारणं ब्रह्म’ इत्युपक्रम्य ‘ते ध्यानयोगानुगता अपश्य-
न्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्’ इति पारमेश्वर्याः शक्तेः स-
मस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात्, वाक्यशेषेऽपि
‘मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्’ इति ‘यो
यानिं योनिमधितिष्ठत्येकः’ इति च तस्या एवावगमान्न स्वत-
न्त्रा काचित्प्रकृतिः प्रधानं नामाजामन्त्रेणान्नायत इति शक्यते
वक्तुम् । प्रकरणात्तु सैव दैवी शक्तिरव्याकृतनामरूपा ना-

मरूपयोः प्रागवस्था अनेनापि मन्त्रेणाम्नायत इत्युच्यते ;
तस्याश्च स्वविकारविषयेण त्रैरूप्येण त्रैरूप्यमुक्तम् ॥

कथं पुनस्तेजोवन्नात्मना त्रैरूप्येण त्रिरूपा अजा प्रतिपत्तुं
शक्यते, यावता न तावत्तेजोवन्नेष्वजाकृतिरस्ति, न च
तेजोवन्नानां जातिश्रवणादजातिनिमित्तोऽप्यजाशब्दः संभ-
वतीति ; अत उत्तरं पठति—

**कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवद-
विरोधः ॥ १० ॥**

नायमजाकृतिनिमित्तोऽजाशब्दः ; नापि यौगिकः ; किं
तर्हि, कल्पनोपदेशोऽयम्— अजारूपकक्लमिस्तेजोवन्नलक्षणा-
याश्चराचरयोनेरूपदिश्यते ; यथा हि लोके यदृच्छया काचि-
दजा रोहितशुक्लकृष्णवर्णा स्याद्बहुवर्करा सरूपवर्करा च, तां
च कश्चिदजो जुषमाणोऽनुशयीत, कश्चिच्चैनां भुक्तभोगां
जह्यात्— एवमियमपि तेजोवन्नलक्षणा भूतप्रकृतिस्त्रिवर्णा
बहु सरूपं चराचरलक्षणं विकारजातं जनयति, अविदुषा
च क्षेत्रज्ञेनोपभुज्यते, विदुषा च परित्यज्यत इति । न चेद-
माशङ्कितव्यम्— एकः क्षेत्रज्ञोऽनुशेते अन्यो जहातीत्यतः
क्षेत्रज्ञभेदः पारमार्थिकः परेषामिष्टः प्राप्नोतीति ; न हीयं
क्षेत्रज्ञभेदप्रतिपिपादयिषा ; किंतु बन्धमोक्षव्यवस्थाप्रतिपि-

पादयिषैवैषा; प्रसिद्धं तु भेदमनूद्य बन्धमोक्षव्यवस्था
प्रतिपाद्यते; भेदस्तूपाधिनिमित्तो मिथ्याज्ञानकल्पितः; न
पारमार्थिकः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी
सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादिश्रुतिभ्यः । मध्वादिवत्— यथा
आदित्यस्यामधुनो मधुत्वम्, वाचश्चाधेनोर्धेनुत्वम्, तुलो-
कादीनां चानग्नीनामग्नित्वम्— इत्येवंजातीयकं कल्प्यते,
एवमिदमनजाया अजात्वं कल्प्यत इत्यर्थः । तस्मादविरो-
धस्तेजोबन्नेष्वजाशब्दप्रयोगस्य ॥

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावा- दतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

एवं परिहृतेऽप्यजामन्त्रे पुनरप्यन्यस्मान्मन्त्रात्सांख्यः प्र-
त्यवतिष्ठते— 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।

३. संख्योपसंग्र- तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृ-
दाधिकरणम् । तम्' इति । अस्मिन्मन्त्रे पञ्च पञ्चजना
इति पञ्चसंख्याविषया अपरा पञ्चसंख्या श्रूयते, पञ्चश-
ब्दद्वयदर्शनात्; त एते पञ्च पञ्चकाः पञ्चविंशतिः संपद्यन्ते;
तया च पञ्चविंशतिसंख्यया यावन्तः संख्येया आकाङ्क्षन्ते
तावन्त्येव च तत्त्वानि सांख्यैः संख्यायन्ते— 'मूलप्रकृतिर-

विकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो
न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' इति ; तथा श्रुतिप्रसिद्धया
पञ्चविंशतिसंख्यया तेषां स्मृतिप्रसिद्धानां पञ्चविंशतेस्तत्त्वा-
नामुपसंग्रहात्प्राप्तं पुनः श्रुतिमत्त्वमेव प्रधानादीनाम् ।

ततो ब्रूमः— न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां श्रुति-
मत्त्वं प्रत्याशा कर्तव्या ; कस्मात् ? नानाभावात् ; नाना
ह्येतानि पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि ; नैषां पञ्चशः पञ्चशः साधार-
णो धर्मोऽस्ति, येन पञ्चविंशतेरन्तराले पराः पञ्च पञ्च संख्या
निविशेरन् ; न ह्येकनिबन्धनमन्तरेण नानाभूतेषु द्वित्वा-
'दिकाः संख्या निविशन्ते । अथोच्येत— पञ्चविंशतिसं-
ख्यैवेयमवयवद्वारेण लक्ष्यते, यथा 'पञ्च सप्त च वर्षाणि
न ववर्षं शतक्रतुः' इति द्वादशवार्षिकीमनावृष्टिं कथयन्ति,
तद्वदिति ; तदपि नोपपद्यते ; अयमेवास्मिन्पक्षे दोषः, यल्लक्ष-
णाश्रयणीया स्यात् । परश्चात्र पञ्चशब्दो जनशब्देन समस्तः
पञ्चजना इति, भाषिकस्वरेणैकपदत्वनिश्चयात् ; प्रयोगा-
न्तरे च 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्' इत्यैकपद्यैकस्वर्यैक-
विभक्तिकत्वावगमात् ; समस्तत्वाच्च न वीप्सा 'पञ्च पञ्च'
इति । तेन न पञ्चकद्वयग्रहणं पञ्च पञ्चेति । न च पञ्चसंख्या-
या एकस्याः पञ्चसंख्यया परया विशेषणम् 'पञ्च पञ्चकाः'

इति, उपसर्जनस्य विशेषणेनासंयोगात्; नन्वापन्नपञ्चसंख्या-
का जना एव पुनः पञ्चसंख्यया विशेष्यमाणाः पञ्चविंशतिः
प्रत्येष्ट्यन्ते, यथा पञ्च पञ्चपूल्य इति पञ्चविंशतिः पूलाः
प्रतीयन्ते, तद्वत्; नेति ब्रूमः; युक्तं यत्पञ्चपूलीशब्दस्य
समाहाराभिप्रायत्वात् कतीति सत्यां भेदाकाङ्क्षायां पञ्च
पञ्चपूल्य इति विशेषणम्; इह तु पञ्च जना इत्यादित एव
भेदोपादानात्कतीयसत्यां भेदाकाङ्क्षायां न पञ्च पञ्चजना
इति विशेषणं भवेत्; भवदपीदं विशेषणं पञ्चसंख्याया एव
भवेत्; तत्र चोक्तो दोषः; तस्मात्पञ्च पञ्चजना इति न
पञ्चविंशतितत्त्वाभिप्रायम् । अतिरेकाच्च न पञ्चविंशतिः
तत्त्वाभिप्रायम्; अतिरेको हि भवत्यात्माकाशाभ्यां पञ्च-
विंशतिसंख्यायाः; आत्मा तावदिह प्रतिष्ठां प्रत्याधारत्वेन
निर्दिष्टः, 'यस्मिन्' इति सप्तमीसूचितस्य 'तमेव मन्य
आत्मानम्' इत्यात्मत्वेनानुकर्षणात्; आत्मा च चेतनः
पुरुषः; स च पञ्चविंशतावन्तर्गत एवेति न तस्यैवाधारत्वमा-
धेयत्वं च युज्येत; अर्थान्तरपरिग्रहे वा तत्त्वसंख्यातिरेकः
सिद्धान्तविरुद्धः प्रसज्येत; तथा 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः'
इत्याकाशस्यापि पञ्चविंशतावन्तर्गतस्य न पृथगुपादानं न्या-
य्यम्; अर्थान्तरपरिग्रहे चोक्तं दूषणम् । कथं च संख्या-

मात्रश्रवणे सत्यश्रुतानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहः प्रती-
येत ? जनशब्दस्य तत्त्वेष्वरूढत्वात्, अर्थान्तरोपसंग्रहेऽपि
संख्योपपत्तेः । कथं तर्हि पञ्च पञ्चजना इति ? उच्यते—
'दिकसंख्ये संज्ञायाम्' इति विशेषस्मरणात्संज्ञायामेव पञ्चश-
ब्दस्य जनशब्देन समासः ; ततश्च रूढत्वाभिप्रायेणैव केचि-
त्पञ्चजना नाम विवक्ष्यन्ते, न सांख्यतत्त्वाभिप्रायेण ; ते
कतीत्यस्यामाकाङ्क्षायां पुनः पञ्चेति प्रयुज्यते ; पञ्चजना
नाम ये केचित्, ते च पञ्चैवेत्यर्थः, सप्तर्षयः सप्तेति यथा ॥

के पुनस्ते पञ्चजना नामेति, तदुच्यते—

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इत्यत उत्तरस्मिन्मन्त्रे ब्रह्म-
स्वरूपनिरूपणाय प्राणादयः पञ्च निर्दिष्टाः— 'प्राणस्य प्रा-
णमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो
विदुः' इति ; तेऽत्र वाक्यशेषगताः संनिधानात्पञ्चजना वि-
वक्ष्यन्ते । कथं पुनः प्राणादिषु जनशब्दप्रयोगः ? तत्त्वेषु
वा कथं जनशब्दप्रयोगः ? समाने तु प्रसिद्धवृत्तिक्रमे वा-
क्यशेषवशात्प्राणादय एव प्रहीतव्या भवन्ति ; जनसंबन्धाच्च
प्राणादयो जनशब्दभाजो भवन्ति ; जनवचनश्च पुरुषशब्दः

प्राणेषु प्रयुक्तः—‘ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः’ इत्यत्र ; ‘प्राणो ह पिता प्राणो ह माता’ इत्यादि च ब्राह्मणम् । समासबलाच्च समुदायस्य रूढत्वमविरुद्धम् ; कथं पुनरसति प्रथमप्रयोगे रूढिः शक्याश्रयितुम् ? शक्या उद्भिदादिवदित्याह— प्रसिद्धार्थ-संनिधाने ह्यप्रसिद्धार्थः शब्दः प्रयुज्यमानः समभिव्याहारा-त्तद्विषयो नियम्यते ; यथा ‘उद्भिदा यजेत’ ‘यूपं छिनत्ति’ ‘वेदिं करोति’ इति, तथा अयमपि पञ्चजनशब्दः समासा-न्वाख्यानादवगतसंज्ञाभावः संज्ञाकाङ्क्षी वाक्यशेषसमभि-व्याहृतेषु प्राणादिषु वर्तिष्यते । कैश्चित्तु देवाः पितरो गन्धर्वा असुरा रक्षांसि च पञ्च पञ्चजना व्याख्याताः ; अन्यैश्च चत्वारो वर्णा निषादपञ्चमाः परिगृहीताः ; क्वचिच्च ‘यत्पाञ्चजन्यया विशा’ इति प्रजापरः प्रयोगः पञ्चजन-शब्दस्य दृश्यते ; तत्परिग्रहेऽपीह न कश्चिद्विरोधः ; आचा-र्यस्तु न पञ्चविंशतेस्तत्त्वानामिह प्रतीतिरस्तीत्येवंपरतया ‘प्राणादयो वाक्यशेषात्’ इति जगाद ॥

भवेयुस्तावत्प्राणादयः पञ्चजना माध्यादिनानाम्, येऽन्नं प्राणादिष्वामनन्ति ; काण्वानां तु कथं प्राणादयः पञ्चजना भवेयुः, येऽन्नं प्राणादिषु नामनन्तीति— अत उत्तरं पठति—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

असत्यपि काण्वानामन्त्रे ज्योतिषा तेषां पञ्चसंख्या पूर्वे-
त ; तेऽपि हि 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इत्यतः पूर्वस्मिन्मन्त्रे
ब्रह्मस्वरूपनिरूपणायैव ज्योतिरधीयते 'तद्देवा ज्योतिषां
ज्योतिः' इति । कथं पुनरुभयेषामपि तुल्यवदिदं ज्योतिः प-
ञ्चमानं समानमन्त्रगतया पञ्चसंख्यया केषांचिद्ब्रूयते केषां-
चिन्नेति—अपेक्षाभेदादित्याह—माध्यंदिनानां हि समानम-
न्त्रपठितप्राणादिपञ्चजनलाभान्नास्मिन्मन्त्रान्तरपठिते ज्योति-
ष्यपेक्षा भवति ; तदलाभात्तु काण्वानां भवत्यपेक्षा ; अपेक्षा-
भेदाच्च समानेऽपि मन्त्रे ज्योतिषो ग्रहणाग्रहणे ; यथा समा-
नेऽप्यतिरात्रे वचनभेदात्षोडशिनो ग्रहणाग्रहणे, तद्वत् । त-
देवं न तावच्छ्रुतिप्रसिद्धिः काचित्प्रधानविषयास्ति ; स्मृति-
न्यायप्रसिद्धी तु परिहरिष्येते ॥

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथान्यप-

दिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

प्रतिपादितं ब्रह्मणो लक्षणम् ; प्रतिपादितं ब्रह्मवि-
षयं गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानाम् ; प्रतिपादितं च प्रधा-

४. कारणत्वा- नस्याशब्दत्वम् ; तत्रेदमपरमाशङ्क्यते—

धिकरणम् । न जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो ब्रह्मविषयं वा

गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानां प्रतिपादयितुं शक्यम् ; कस्मात् ? विगानदर्शनान् ; प्रतिवेदान्तं ह्यन्यान्या सृष्टिरूपलभ्यते, क्रमादिवैचित्र्यात् । तथा हि— कश्चित् ‘आत्मन आकाशः संभूतः’ इत्याकाशादिका सृष्टिराम्नायते ; कश्चित्तेजआदिका ‘तत्तेजोऽसृजत’ इति ; कश्चित्प्राणादिका ‘स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्’ इति ; कश्चिदक्रमेणैव लोकानामुत्पत्तिराम्नायते— ‘स इमाल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचीर्मरमापः’ इति ; तथा कश्चिदसत्पूर्विका सृष्टिः पठ्यते— ‘असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत’ इति, ‘असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्’ इति च ; कश्चिदसद्वादनिराकरणेन सत्पूर्विका प्रक्रिया प्रतिज्ञायते— ‘तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्’ इत्युपक्रम्य, ‘कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्’ इति ; कश्चित्स्वयंकर्तृकैव व्याक्रिया जगतो निगद्यते— ‘तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते’ इति । एवमनेकधा विप्रतिपत्तेर्वस्तुनि च विकल्पस्यानुपपत्तेर्न वेदान्तवाक्यानां जगत्कारणावधारणपरता न्याय्या ; स्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्यां तु कारणान्तरपरिग्रहो न्याय्य इत्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः—सत्यपि प्रतिवेदान्तं सृज्यमानेष्वकाशादिषु क्रमादिद्वारके विगाने, न स्रष्टरि किञ्चिद्विगानमस्ति ; कुतः ? यथाव्यपदिष्टोक्तेः—यथाभूतो ह्येकस्मिन्वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मैकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्टः, तथाभूत एव वेदान्तान्तरेष्वपि व्यपदिश्यते ; तद्यथा—‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इति ; अत्र तावज्ज्ञानशब्देन परेण च तद्विषयेण कामयितृत्ववचनेन चेतनं ब्रह्म न्यरूपयन् ; अपरप्रयोज्यत्वेनेश्वरं कारणमब्रवीत् ; तद्विषयेणैव परेणात्मशब्देन शरीरादिकोशपरम्परया चान्तरनुप्रवेशनेन सर्वेषामन्तः प्रत्यगात्मानं निरधारयत् ; ‘बहु स्यां प्रजायेय’ इति चात्मविषयेण बहुभवनानुशंसनेन सृज्यमानानां विकाराणां स्रष्टुरभेदमभाषत ; तथा ‘इदं सर्वमसृजत । यदिदं किं च’ इति समस्तजगत्सृष्टिनिर्देशेन प्राक्सृष्टेरद्वितीयं स्रष्टारमाचष्टे ; तदत्र यल्लक्षणं ब्रह्म कारणत्वेन विज्ञातम्, तल्लक्षणमेवान्यत्रापि विज्ञायते—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ ‘तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत’ इति ; तथा ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजै’ इति च—एवंजातीयकस्य कारणस्वरूपनिरूपणपरस्य वाक्यजातस्य प्रतिवेदान्तमविगीतार्थत्वात् । कार्य-

विषयं तु विगानं दृश्यते—कचिदाकाशादिका सृष्टिः कचित्तेज-
 आदिकेत्येवंजातीयकम् । न च कार्यविषयेण विगानेन कारण-
 मपि ब्रह्म सर्ववेदान्तेष्वविगीतमधिगम्यमानमविवक्षितं भवि-
 तुमर्हतीति शक्यते वक्तुम्, अतिप्रसङ्गात् । समाधास्यति चा-
 चार्यः कार्यविषयमपि विगानम् ‘न वियदश्रुतेः’ इत्यारभ्य । भ-
 वेदपि कार्यस्य विगीतत्वमप्रतिपाद्यत्वात् । न ह्ययं सृष्ट्या-
 दिप्रपञ्चः प्रतिपिपादयिषितः । न हि तत्प्रतिबद्धः कश्चित्पु-
 रुषार्थो दृश्यते श्रूयते वा । न च कल्पयितुं शक्यते, उप-
 क्रमोपसंहाराभ्यां तत्र तत्र ब्रह्मविषयैर्वाक्यैः साकमेकवा-
 क्यताया गम्यमानत्वात् । दर्शयति च सृष्ट्यादिप्रपञ्चस्य
 ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थताम्— ‘अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलम-
 न्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य
 शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ’ इति । मृदादिदृष्टान्तैश्च कार्यस्य
 कारणेनाभेदं वदितुं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः श्राव्यत इति गम्यते ।
 तथा च संप्रदायविदो वदन्ति— ‘मृलोहविस्फुलिङ्गाद्यैः
 सृष्टिर्या चोदितान्यथा । उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः
 कथंचन’ इति । ब्रह्मप्रतिपत्तिप्रतिबद्धं तु फलं श्रूयते—‘ब्रह्म-
 विदाप्नोति परम्’ ‘तरति शोकमात्मवित्’ ‘तमेव विदित्वाति
 मृत्युमेति’ इति । प्रत्यक्षावगमं चेदं फलम्, ‘तत्त्वमसि’

इत्यसंसार्यात्मत्वप्रतिपत्तौ सत्यां संसार्यात्मत्वव्यावृत्तेः ॥

यत्पुनः कारणविषयं विगानं दर्शितम् ‘असद्वा इदमग्र आसीत्’ इत्यादि, तत्परिहर्तव्यम् ; अत्रोच्यते—

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

‘असद्वा इदमग्र आसीत्’ इति नात्रासन्निरात्मकं कारणत्वेन श्राव्यते ; यतः ‘असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुः’ इत्यसद्वादापवादेनास्तित्वलक्षणं ब्रह्मान्नमयादिकोशपरम्परया प्रत्यगात्मानं निर्धार्य, ‘सोऽकामयत्’ इति तमेव प्रकृतं समाकृष्य, सप्रपञ्चां सृष्टिं तस्माच्छ्रवयित्वा, ‘तत्सत्यमित्याचक्षते’ इति चोपसंहृत्य, ‘तदप्येष श्लोको भवति’ इति तस्मिन्नेव प्रकृतेऽर्थे श्लोकमिममुदाहरति— ‘असद्वा इदमग्र आसीत्’ इति ; यदि त्वसन्निरात्मकमस्मिन्श्लोकेऽभिप्रेयेत्, ततोऽन्यसमाकर्षणेऽन्यस्योदाहरणादसंबद्धं वाक्यमापद्येत ; तस्मान्नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः प्रायेण सच्छब्दः प्रसिद्ध इति तद्व्याकरणाभावापेक्षया प्रागुत्पत्तेः सदेव ब्रह्मासदिवासीदित्युपचर्यते । एषैव ‘असदेवेदमग्र आसीत्’ इत्यत्रापि योजना, ‘तत्सदासीत्’ इति समाकर्षणात् ; अत्यन्ताभावा-

भ्युपगमे हि 'तत्सदासीन्' इति किं समाकृष्येत ? 'तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीन्' इत्यत्रापि न श्रुत्यन्तराभिप्रायेणायमेकीयमतोपन्यासः, क्रियायामिव वस्तुनि विकल्पस्यासंभवान् ; तस्माच्छ्रुतिपरिगृहीतसत्पक्षदाह्यायैवायं मन्दमतिपरिकल्पितस्यासत्पक्षस्योपन्यस्य निरास इति द्रष्टव्यम् । 'तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीन्' इत्यत्रापि न निरध्यक्षस्य जगतो व्याकरणं कथ्यते, 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' इत्यध्यक्षस्य व्याकृतकार्यानुप्रवेशित्वेन समाकर्षात् ; निरध्यक्षे व्याकरणाभ्युपगमे ह्यनन्तरेण प्रकृतावलम्बिना स इत्यनेन सर्वनाम्ना कः कार्यानुप्रवेशित्वेन समाकृष्येत ? चेतनस्य चायमात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशः श्रूयते, अनुप्रविष्टस्य चेतनत्वश्रवणात्—'पश्यंश्चक्षुः शृण्वन्श्रोत्रं मन्वानो मनः' इति ; अपि च यादृशमिदमद्यत्वे नामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणं जगत्साध्यक्षं व्याक्रियते, एवमादिसर्गेऽपीति गम्यते, दृष्टविपरीतकल्पनानुपपत्तेः ; श्रुत्यन्तरमपि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति साध्यक्षामेवं जगतो व्याक्रियां दर्शयति ; 'व्याक्रियते' इत्यपि कर्मकर्तरि लकारः सत्येव परमेश्वरे व्याकर्तरि सौकर्यमपेक्ष्य द्रष्टव्यः— यथा लूयते केदारः स्वयमेवेति सत्येव पूर्णके

लवितरि; यद्वा कर्मण्येवैष लकारोऽर्थाक्षिप्तं कर्त्रन्तरमपेक्ष्य
द्रष्टव्यः— यथा गम्यते ग्राम इति ॥

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

कौषीतिकिब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादे श्रूयते—
‘यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै
५. बालाक्य- वेदितव्यः’ इति । तत्र किं जीवो वेदित-
धिकरणम् । व्यत्वेनोपदिश्यते, उत मुख्यः प्राणः, उत
परमात्मेति विशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? प्राण इति । कुतः ?
‘यस्य वैतत्कर्म’ इति श्रवणात्, परिस्पन्दलक्षणस्य च
कर्मणः प्राणाश्रयत्वात्; वाक्यशेषे च ‘अथास्मिन्प्राण एवैकधा
भवति’ इति प्राणशब्दश्रवणात्, प्राणशब्दस्य च मुख्ये प्राणे
प्रसिद्धत्वात्; ये चैते पुरस्ताद्बालाकिना ‘आदित्ये पुरुषश्च-
न्द्रमसि पुरुषः’ इत्येवमादयः पुरुषा निर्दिष्टाः, तेषामपि
भवति प्राणः कर्ता, प्राणावस्थाविशेषत्वादादित्यादिदेवतात्म-
नाम् — ‘कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्य-
दित्याचक्षते’ इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः । जीवो वायमिह वेदि-
तव्यतयोपदिश्यते; तस्यापि धर्माधर्मलक्षणं कर्म शक्यते
श्रावयितुम्— ‘यस्य वैतत्कर्म’ इति; सोऽपि भोक्तृत्वाद्भो-
गोपकरणभूतानामेतेषां पुरुषाणां च कर्तोपपद्यते; वाक्यशेषे

जीवलिङ्गमवगम्यते— यत्कारणं वेदितव्यतयोपन्यस्तस्य पुरुषाणां कर्तुर्वेदनायोपेतं बालाकिं प्रति बुबोधयिषुरजात-
शत्रुः सुप्तं पुरुषमामन्त्र्य आमन्त्रणशब्दाश्रवणात्प्राणादीना-
मभोक्तृत्वं प्रतिबोध्य यष्टिघातोत्थापनात्प्राणादिव्यतिरिक्तं
जीवं भोक्तारं प्रतिबोधयति; तथा परस्तादपि जीवलिङ्गम-
वगम्यते— ‘तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्मुञ्जे यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं
भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्मुञ्जे एवमेवैत आत्मान
एतमात्मानं भुञ्जन्ति’ इति; प्राणभृत्त्वाच्च जीवस्योपपन्नं
प्राणशब्दत्वम् । तस्माज्जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर इह ग्रहणीयः,
न परमेश्वरः; तल्लिङ्गानवगमादित्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः— परमेश्वर एवायमेतेषां पुरुषाणां कर्ता स्यात्; क-
स्मात्? उपक्रमसामर्थ्यात् । इह हि बालाकिरजातशत्रुणा सह
‘ब्रह्म ते ब्रवाणि’ इति संवदितुमुपचक्रमे; स च कतिचिदादि-
त्याद्यधिकरणान्पुरुषानमुख्यब्रह्मदृष्टिभाज उक्त्वा तूष्णीं ब-
भूव; तमजातशत्रुः ‘मृषा वै खलु मा संवदिष्टा ब्रह्म ते
ब्रवाणि’ इत्यमुख्यब्रह्मवादितयापोद्य, तत्कर्तारमन्यं वेदित-
व्यतयोपचिक्षेप; यदि सोऽप्यमुख्यब्रह्मदृष्टिभाक्स्यात्, उप-
क्रमो बाध्येत; तस्मात्परमेश्वर एवायं भवितुमर्हति । कर्तृत्वं
चैतेषां पुरुषाणां न परमेश्वरादन्यस्य स्वातन्त्र्येणावकल्पते ।

‘यस्य वैतत्कर्म’ इत्यपि नायं परिस्पन्दलक्षणस्य धर्माधर्म-
लक्षणस्य वा कर्मणो निर्देशः, तयोरन्यतरस्याप्यप्रकृतत्वात्,
असंशब्दितत्वाच्च; नापि पुरुषाणामयं निर्देशः, ‘एतेषां पु-
रुषाणां कर्ता’ इत्येव तेषां निर्दिष्टत्वात्, लिङ्गवचनविगाना-
च्च; नापि पुरुषविषयस्य करोत्यर्थस्य क्रियाफलस्य वायं नि-
र्देशः, कर्तृशब्देनैव तथोरुपात्तत्वात्; पारिशेष्यात्प्रत्यक्षसंनि-
हितं जगत्सर्वनाम्नैतच्छब्देन निर्दिश्यते; क्रियत इति च
तदेव जगत्कर्म; ननु जगदप्यप्रकृतमसंशब्दितं च; सत्यमे-
तत्; तथाप्यसति विशेषोपादाने साधारणेनार्थेन संनिधा-
नेन संनिहितवस्तुमात्रस्यायं निर्देश इति गम्यते, न विशि-
ष्टस्य कस्यचित्, विशेषसंनिधानाभावात्; पूर्वत्र च ज-
गदेकदेशभूतानां पुरुषाणां विशेषोपादानादविशेषितं ज-
गदेवेहोपादीयत इति गम्यते । एतदुक्तं भवति—य एतेषां
पुरुषाणां जगदेकदेशभूतानां कर्ता—किमनेन विशेषेण ?—
यस्य वा कृत्स्नमेव जगदविशेषितं कर्मेति—वा-शब्द एकदेशा-
वच्छिन्नकर्तृत्वव्यावृत्त्यर्थः; ये बालाकिना ब्रह्मत्वाभिमताः
पुरुषाः कीर्तिताः, तेषामब्रह्मत्वख्यापनाय विशेषोपादानम् ।
एवं ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन सामान्यविशेषाभ्यां जगतः
कर्ता वेदितव्यतयोपदिश्यते; परमेश्वरश्च सर्वजगतः कर्ता

सर्ववेदान्तेष्ववधारितः ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्या- ख्यातम् ॥ १७ ॥

अथ यदुक्तं वाक्यशेषगताजीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाञ्च तयोरेवान्यतरस्येह ग्रहणं न्याय्यं न परमेश्वरस्येति, तत्परिहर्तव्यम् ; अत्रोच्यते—परिहृतं चैतन् 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इत्यत्र ; त्रिविधं ह्यत्रोपासनमेवं सति प्रसज्येत—जीवोपासनं मुख्यप्राणोपासनं ब्रह्मोपासनं चेति ; न चैतन्न्याय्यम् ; उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि ब्रह्मविषयत्वमस्य वाक्यस्यावगम्यते ; तत्रोपक्रमस्य तावद्ब्रह्मविषयत्वं दर्शितम् ; उपसंहारस्यापि निरतिशयफलश्रवणाद्ब्रह्मविषयत्वं दृश्यते— 'सर्वान्पाप्मनोऽपहृत्य सर्वेषां च भूतानां श्रेष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद' इति । नन्वेवं सति प्रतर्दनवाक्यनिर्णयेनैवेदमपि वाक्यं निर्णयित ; न निर्णयिते, 'यस्य वैतत्कर्म' इत्यस्य ब्रह्मविषयत्वेन तत्र अनिर्धारितत्वान् ; तस्मादत्र जीवमुख्यप्राणशङ्का पुनरुत्पद्यमाना निवर्त्यते ; प्राणशब्दोऽपि ब्रह्मविषयो दृष्टः 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इत्यत्र ; जीवलिङ्गमप्युपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मविषयत्वाद्भेदाभिप्रायेण योजयितव्यम् ॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्याना- भ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यम्— जीवप्रधानं वेदं वाक्यं म्यात् ब्रह्मप्रधानं वेति; यतोऽन्यार्थं जीवपरामर्शं ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमभिमन्वाक्ये जैमिनिराचार्यो मन्यते; कस्मात्? प्रश्नव्याख्यानाभ्याम् । प्रश्नतावत्सुषुप्तपुरुषप्रतिबोधनेन प्राणादिव्यतिरिक्ते जीवे प्रतिबोधिते पुनर्जीवव्यतिरिक्तविषयो दृश्यते— ‘कैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ठ क वा एतद्भूत्कुत एतदागान्’ इति; प्रतिवचनमपि— ‘यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति’ इत्यादि, ‘एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः’ इति च सुषुप्तिकाले च परेण ब्रह्मणा जीव एकतां गच्छति; परस्माच्च ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा । तस्माद्यत्रास्य जीवस्य निःसंबोधस्वस्थतारूपः स्वापः— उपाधिजनितविशेषविज्ञानरहितं स्वरूपम्, यतस्तद्भ्रंशरूपमागमनम्, सोऽत्र परमात्मा वेदितव्यतया श्रावित इति गम्यते । अपि चैवमेके शाखिनो वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुसंवादे स्पष्टं विज्ञानमयशब्देन जीवमात्राय तद्व्यतिरिक्तं परमात्मान-

मामनन्ति 'य एष विज्ञानमयः पुरुषः कैष तदाभूत्कुत एतदागात्' इति प्रश्ने; प्रतिवचनेऽपि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते' इति; आकाशशब्दश्च परमात्मनि प्र-
युक्तः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्यत्र; 'सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' इति चोपाधिमतामात्मनामन्यतो व्युच्चरण-
मामनन्तः परमात्मानमेव कारणत्वेनामनन्तीति गम्यते । प्राणनिराकरणस्यापि सुषुप्तपुरुषोत्थापनेन प्राणादिव्यतिरि-
क्तोपदेशोऽभ्युच्चयः ॥

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणेऽभिधीयते—'न वा अरे पत्युः कामाय' इत्युपक्रम्य 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं
६. वाक्यान्वया- भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्या-
धिकरणम् । त्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन
मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इति; तत्रैतद्विचिकित्स्यते—
किं विज्ञानात्मैवायं द्रष्टव्यश्रोतव्यत्वादिरूपेणोपदिश्यते,
आहोस्वित्परमात्मेति । कुतः पुनरेषा विचिकित्सा ? प्रियसं-
सूचितेनात्मना भोक्त्रोपक्रमाद्विज्ञानात्मोपदेश इति प्रतिभा-
ति; तथात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपदेशात्परमात्मोपदेश इति ।

किं तावत्प्राप्तम्?— विज्ञानात्मोपदेश इति ; कस्मात्? उप-
क्रमसामर्थ्यात् । पतिजायापुत्रवित्तादिकं हि भोग्यभूतं सर्वं
जगत् आत्मार्थतया प्रियं भवतीति प्रियसंसूचितं भोक्तार-
मात्मानमुपक्रम्यानन्तरमिदमात्मनो दर्शनाशुपदिश्यमानं क-
स्यान्यस्यात्मनः स्यात्? मध्येऽपि 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं
विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति
न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य
भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन ब्रुवन्विज्ञानात्मन एवेदं
द्रष्टव्यत्वं दर्शयति ; तथा 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'
इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहरन्विज्ञानात्मानमेवेहोपदिष्टं
दर्शयति ; तस्मादात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानवचनं भोक्त्रर्थत्वा-
द्भोग्यजातस्यौपचारिकं द्रष्टव्यमित्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः—परमात्मोपदेश एवायम् ; कस्मात्? वाक्यान्व-
यात् । वाक्यं हीदं पौर्वापर्येणावेक्ष्यमाणं परमात्मानं प्रत्य-
न्वितावयवं लक्ष्यते ; कथमिति तदुपपाद्यते—'अमृतत्वस्य
तु नाशास्ति वित्तेन' इति याज्ञवल्क्यादुपश्रुत्य 'येनाहं नामृ-
ता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद् तदेव मे ब्रूहि'
इत्यमृतत्वमाशासानायै मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य आत्मविज्ञानमु-
पदिशति ; न चान्यत्र परमात्मविज्ञानादमृतत्वमस्तीति श्रु-

तिस्मृतिवादा वदन्ति ; तथा चात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुच्य-
मानं नान्यत्र परमकारणविज्ञानान्मुख्यमवकल्पते ; न चैत-
दौपचारिकमाश्रयितुं शक्यम् , यत्कारणमात्मविज्ञानेन सर्ववि-
ज्ञानं प्रतिज्ञायानन्तरेण ग्रन्थेन तदेवोपपादयति—‘ब्रह्म तं
परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद’ इत्यादिना ; यो हि ब्रह्मक्ष-
त्रादिकं जगदात्मनोऽन्यत्र स्वातन्त्र्येण लब्धसद्भावं पश्यति,
तं मिथ्यादर्शिनं तदेव मिथ्यादृष्टं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत्पराक-
रोतीति भेददृष्टिमपोद्य, ‘इदं सर्वं यदयमात्मा’ इति सर्वस्य
वस्तुजातस्यात्माव्यतिरेकमवतारयति ; दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च
तमेवाव्यतिरेकं द्रढयति ; ‘अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमे-
तद्यद्गवेदः’ इत्यादिना च प्रकृतस्यात्मनो नामरूपकर्मप्रप-
ञ्चकारणतां व्याचक्षाणः परमात्मानमेवैनं गमयति ; तथैवैका-
यनप्रक्रियायामपि सविषयस्य सेन्द्रियस्य सान्तःकरणस्य
प्रपञ्चस्यैकायनमनन्तरमबाह्यं कृत्स्नं प्रज्ञानघनं व्याचक्षाणः
परमात्मानमेवैनं गमयति । तस्मात्परमात्मन एवायं दर्शनाद्यु-
पदेश इति गम्यते ॥

यत्पुनरुक्तं प्रियसंसूचितोपक्रमाद्विज्ञानात्मन एवायं दर्श-
नाद्युपदेश इति, अत्र ब्रूमः—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाहमरथ्यः ॥ २० ॥

अस्यत्र प्रतिज्ञा—‘आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति’
 ‘इदं सर्वं यद्यमात्मा’ इति च । तस्याः प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूच-
 यत्येतल्लिङ्गम्, यत्प्रियसंसूचितस्यात्मनो द्रष्टव्यत्वादिसंकीर्त-
 नम् । यदि हि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽन्यः स्यात्, ततः
 परमात्मविज्ञानेऽपि विज्ञानात्मा न विज्ञायत इत्येकविज्ञानेन
 सर्वविज्ञानं यत्प्रतिज्ञातम्, तद्धीयेत । तस्मात्प्रतिज्ञासिद्धयर्थं
 विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदांशेनोपक्रमणमित्याश्मरथ्य आचा-
 र्यो मन्यते ॥

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौ-

डुलोमिः ॥ २१ ॥

विज्ञानात्मन एव देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातोपाधिसंपर्का-
 त्कलुषीभूतस्य ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात्संप्रसन्नस्य देहा-
 दिसंघातादुत्क्रमिष्यतः परमात्मनैक्योपपत्तेरिदमभेदेनोपक्रम-
 णमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । श्रुतिश्चैवं भवति—‘एष
 संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन
 रूपेणाभिनिष्पद्यते’ इति । कचिच्च जीवाश्रयमपि नामरूपं
 नदीनिदर्शनेन ज्ञापयति—‘यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
 ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
 परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्’ इति; यथा लोके नद्यः

स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय समुद्रमुपयन्ति, एवं जीवोऽपि
स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय परं पुरुषमुपैतीति हि तत्रार्थः
प्रतीयते—दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तुल्यतायै ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थाना-
दुपपन्नमिदमभेदेनोपक्रमणमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्य-
ते । तथा च ब्राह्मणम्— ‘अनेन जीवेनात्मनानुप्र-
विश्य नामरूपे व्याकरवाणि’ इत्येवंजातीयकं परस्यै-
वात्मनो जीवभावेनावस्थानं दर्शयति; मन्त्रवर्णश्च—
‘सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्य-
दास्ते’ इत्येवंजातीयकः । न च तेजःप्रभृतीनां सृष्टौ जीवस्य
पृथक्सृष्टिः श्रुता, येन परस्मादात्मनोऽन्यस्तद्विकारो जीवः
स्यात् । काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो जीवः,
नान्य इति मतम्; आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मा-
दनन्यत्वमभिप्रेतम्, तथापि ‘प्रतिज्ञासिद्धेः’ इति सापेक्षत्वा-
भिधानात्कार्यकारणभावः कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते;
औडुलोमिपक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते ।
तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते, प्रतिपिपाद-
यिषितार्थानुसारात् ‘तन्त्वमसि’ इत्यादिश्रुतिभ्यः; एवं च

सति तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पते ; विकारात्मकत्वे हि जीव-
स्याभ्युपगम्यमाने विकारस्य प्रकृतिसंबन्धे प्रलयप्रसङ्गान्न
तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पेत । अतश्च स्वाश्रयस्य नामरूपस्या-
संभवादुपाध्याश्रयं नामरूपं जीवे उपचर्यते । अत एवोत्पत्ति-
रपि जीवस्य क्वचिदग्निविस्फुलिङ्गोदाहरणेन श्राव्यमाणा
उपाध्याश्रयैव वेदितव्या ॥

यदप्युक्तं प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः
समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन दर्शयन्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्ट-
व्यत्वं दर्शयतीति, तत्रापीयमेव त्रिसूत्री योजयितव्या ।
'प्रतिज्ञासिद्धेलिङ्गमाश्मरथ्यः'—इदमत्र प्रतिज्ञातम्—'आ-
त्मनि विदिते सर्वमिदं विदितं भवति' 'इदं सर्वं यदयमा-
त्मा' इति च ; उपपादितं च सर्वस्य नामरूपकर्मप्रपञ्चस्यैक-
प्रसवत्वादेकप्रलयत्वाच्च दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च कार्यकारणयो-
रव्यतिरेकप्रतिपादनात् ; तस्या एव प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूच-
यत्येतलिङ्गम्, यन्महतो भूतस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञाना-
त्मभावेन कथितम् इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते—अभेदे हि
सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातमवकल्पत इति । 'उत्क्र-
मिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः'— उत्क्रमिष्यतो वि-
ज्ञानात्मनो ज्ञानध्यानादिसामर्थ्यात्संप्रसन्नस्य परेणात्मनैक्य-

संभवादिदमभेदाभिधानमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । ‘अत्र-
स्थितेरिति काशकृत्स्नः’—अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञाना-
नात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदाभिधानमिति काशकृ-
त्स्न आचार्यो मन्यते । ननूच्छेदाभिधानमेतत्— ‘एतेभ्यो
भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञा-
स्ति’ इति ; कथमेतदभेदाभिधानम् ? नैष दोषः ; वि-
शेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेतद्विनाशाभिधानम्, नात्मोच्छे-
दाभिप्रायम् ; ‘अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति’ इति
पर्यनुयुज्य, स्वयमेव श्रुत्या अर्थान्तरस्य दर्शितत्वात्—‘न वा
अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा
मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति’ इति । एतदुक्तं भवति— कूटस्थ-
नित्य एवायं विज्ञानघन आत्मा ; नास्योच्छेदप्रसङ्गोऽस्ति ;
मात्राभिस्त्वस्य भूतेन्द्रियलक्षणाभिरविद्याकृताभिरसंसर्गो वि-
द्याया भवति ; संसर्गाभावे च तत्कृतस्य विशेषविज्ञानस्याभा-
वात् ‘न प्रेत्य संज्ञास्ति’ इत्युक्तमिति । यदप्युक्तम्— ‘वि-
ज्ञातारमरे केन विजानीयात्’ इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसं-
हाराद्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यमिति, तदपि काशकृत्स्नीयेनैव
दर्शनेन परिहरणीयम् । अपि च ‘यत्र हि द्वैतामिव भवति
तदितर इतरं पश्यति’ इत्यारभ्याविद्याविषये तस्यैव दर्श-

नादिलक्षणं विशेषविज्ञानं प्रपञ्च्य, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मै-
 वाभूत्त्केन कं पश्येत्' इत्यादिना विद्याविषये तस्यैव दर्श-
 नादिलक्षणस्य विशेषविज्ञानस्याभावमभिदधाति; पुनश्च
 विषयाभावेऽप्यात्मानं विजानीयादित्याशङ्क्य, 'विज्ञातारमरे
 केन विजानीयात्' इत्याह; ततश्च विशेषविज्ञानाभावोपपा-
 दनपरत्वाद्वाक्यस्य विज्ञानधातुरेव केवलः सन्भूतपूर्वगत्या
 कर्तृवचनेन तृचा निर्दिष्ट इति गम्यते । दर्शितं तु पुरस्ता-
 त्काशकृत्स्नीयस्य पक्षस्य श्रुतिमत्त्वम् । अतश्च विज्ञाना-
 त्मपरमात्मनोरविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपरचितदेहाद्युपाधि-
 निमित्तो भेदः, न पारमार्थिक इत्येषोऽर्थः सर्वैवेदान्तवादि-
 भिरभ्युपगन्तव्यः— 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-
 द्वितीयम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'इदं सर्वं
 यदयमात्मा' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' 'नान्यदतोऽस्ति
 द्रष्टृ' इत्येवंरूपाभ्यः श्रुतिभ्यः; स्मृतिभ्यश्च— 'वासुदेवः
 सर्वमिति' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'
 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' इत्येवंरूपाभ्यः; भे-
 ददर्शनापवादाच्च— 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद
 यथा पशुः' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'
 इत्येवंजातीयकान्; 'स वा एष महानज आत्माजरोऽमरो-

ऽमृतोऽभयो ब्रह्म' इति च आत्मनि सर्वविक्रियाप्रतिषेधान् ; अन्यथा च मुमुक्षूणां निरपवादविज्ञानानुपपत्तेः, सुनिश्चिता-
र्थत्वानुपपत्तेश्च ; निरपवादं हि विज्ञानं सर्वाकाङ्क्षानिवर्तक-
मात्मविषयमिष्यते— 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इति
च श्रुतेः ; 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति
च ; स्थितप्रज्ञलक्षणस्मृतेश्च । स्थिते च क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्ववि-
षये सम्यग्दर्शने क्षेत्रज्ञः परमात्मेति नाममात्रभेदात्क्षेत्रज्ञोऽयं
परमात्मनो भिन्नः परमात्मायं क्षेत्रज्ञाद्भिन्न इत्येवंजातीयक
आत्मभेदविषयोऽयं निर्बन्धो निरर्थकः— एको ह्ययमात्मा
नाममात्रभेदेन बहुधाभिधीयत इति । न हि 'सत्यं ज्ञानम-
नन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायाम्' इति कांचिदेवैकां
गुहामधिकृत्यैतदुक्तम् ; न च ब्रह्मणोऽन्यो गुहायां निहितो-
ऽस्ति, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति सृष्टुरेव प्रवेशश्रव-
णात् । ये तु निर्बन्धं कुर्वन्ति, ते वेदान्तार्थं बाधमानाः
श्रेयोद्वारं सम्यग्दर्शनमेव बाधन्ते ; कृतकमनित्यं च मोक्षं
कल्पयन्ति ; न्यायेन च न संगच्छन्त इति ॥

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

यथाभ्युदयहेतुत्वाद्धर्मो जिज्ञास्यः, एवं निःश्रेयसहेतुत्वा-
द्ब्रह्मापि जिज्ञास्यमित्युक्तम् ; ब्रह्म च 'जन्माद्यस्य यतः' इति

लक्षितम् ; तच्च लक्षणं घटरुचकादीनां मृत्सुवर्णादिवत्प्र-
 ७. प्रकृत्यधि- कृतित्वे कुलालसुवर्णकारादिवन्निमित्तत्वे च
 करणम् । समानमित्यतो भवति विमर्शः— किमा-
 त्मकं पुनर्ब्रह्मणः कारणत्वं स्यादिति । तत्र निमित्तकारण-
 मेव तावत्केवलं स्यादिति प्रतिभाति ; कस्मान् ? ईक्षापूर्व-
 ककर्तृत्वश्रवणान्—ईक्षापूर्वकं हि ब्रह्मणः कर्तृत्वमवगम्यते—
 ‘स ईक्षांचक्रे’ ‘स प्राणमसृजत’ इत्यादिश्रुतिभ्यः ; ईक्षा-
 पूर्वकं च कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु दृष्टम् ;
 अनेककारकपूर्विका च क्रियाफलसिद्धिलोके दृष्टा ; स च न्याय
 आदिकर्तर्यपि युक्तः संक्रमयितुम् । ईश्वरत्वप्रसिद्धेश्च— ईश्व-
 राणां हि राजवैवस्वतादीनां निमित्तकारणत्वमेव केवलं
 प्रतीयते ; तद्वत्परमेश्वरस्यापि निमित्तकारणत्वमेव युक्तं
 प्रतिपत्तुम् । कार्यं चेदं जगत्सावयवमचेतनमशुद्धं च दृश्यते,
 कारणेनापि तस्य तादृशेनैव भवितव्यम् , कार्यकारणयोः सा-
 रूप्यदर्शनात् ; ब्रह्म चानेवंलक्षणमवगम्यते— ‘निष्कलं
 निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्’ इत्यादिश्रुतिभ्यः ;
 पारिशेष्याद्ब्रह्मणोऽन्यदुपादानकारणमशुद्धयादिगुणकं स्मृति-
 प्रसिद्धमभ्युपगन्तव्यम् , ब्रह्मकारणत्वश्रुतेर्निमित्तत्वमात्रे पर्य-
 वसानादित्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः— प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम्, निमित्तकारणं च ; न केवलं निमित्तकारणमेव ; कस्मात् ? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधान् । एवं हि प्रतिज्ञादृष्टान्तौ श्रौतौ नोपुरुध्येते । प्रतिज्ञा तावत्—‘उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्’ इति ; तत्र चैकेन विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातमपि विज्ञातं भवतीति प्रतीयते ; तच्चोपादानकारणविज्ञाने सर्वविज्ञानं संभवति, उपादानकारणाव्यतिरेकात्कार्यस्य ; निमित्तकारणाव्यतिरेकस्तु कार्यस्य नास्ति, लोके तक्षणः प्रासादव्यतिरेकदर्शनान् । दृष्टान्तोऽपि ‘यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ इत्युपादानकारणगोचर एवाम्नायते ; तथा ‘एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्’ ‘एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्’ इति च । तथान्यत्रापि ‘कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति’ इति प्रतिज्ञा ; ‘यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति’ इति दृष्टान्तः । तथा ‘आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्’ इति प्रतिज्ञा ; ‘स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्शकनुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु

ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' इति दृष्टान्तः । एवं यथासंभवं प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ प्रकृतित्वसाधनौ प्रत्येतव्यौ । यत इतीयमपि पञ्चमी—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यत्र 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इति विशेषस्मरणात्प्रकृतिलक्षण एवापादाने द्रष्टव्या । निमित्तत्वं त्वधिष्ठात्रन्तराभावादधिगन्तव्यम्; यथा हि लोके मृत्सुवर्णादिकमुपादानकारणं कुलालसुवर्णकारादीनधिष्ठातृनपेक्ष्य प्रवर्तते, नैवं ब्रह्मण उपादानकारणस्य सतोऽन्योऽधिष्ठातापेक्ष्योऽस्ति, प्रागुत्पत्तेः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यवधारणात्; अधिष्ठात्रन्तराभावोऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेवोदितो वेदितव्यः— अधिष्ठातरि ह्युपादानादन्यस्मिन्नभ्युपगम्यमाने पुनरप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्यासंभवात्प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोध एव स्यात् । तस्मादधिष्ठात्रन्तराभावादात्मनः कर्तृत्वमुपादानान्तराभावाच्च प्रकृतित्वम् ॥

कुतश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे ?—

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

अभिध्योपदेशश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे गमयति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति, 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'

इति च । तत्राभिध्यानपूर्विकायाः स्वातन्त्र्यप्रवृत्तेः कर्तेति गम्यते । बहु स्यामिति प्रत्यगात्मविषयत्वाद्बहुभवनाभिध्यानस्य प्रकृतिरित्यपि गम्यते ॥

साक्षाच्चोभयान्नात् ॥ २५ ॥

प्रकृतित्वस्यायमभ्युच्चयः । इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं साक्षाद्ब्रह्मैव कारणमुपादाय उभौ प्रभवप्रलयावाप्नायते— ‘सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति’ इति । यद्धि यस्मात्प्रभवति, यस्मिंश्च प्रलीयते तत्तस्योपादानं प्रसिद्धम्, यथा ब्रीहियवादीनां पृथिवी । ‘साक्षात्’ इति च— उपादानान्तरानुपादानं सूचयति ‘आकाशादेव’ इति । प्रत्यस्तमयश्च नोपादानान्दन्यत्र कार्यस्य दृष्टः ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मप्रक्रियायाम् ‘तदात्मानं स्वयमकुरुत’ इत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं च दर्शयति— आत्मानमिति कर्मत्वम्, स्वयमकुरुतेति कर्तृत्वम् ; कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वं शक्यं

संपादयितुम् ? परिणामादिति ब्रूमः— पूर्वसिद्धोऽपि हि सन्नात्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासात्मानमिति । विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषूपलब्धः ; स्वयमिति च विशेषणान्निमित्तान्तरानपेक्षत्वमपि प्रतीयते ; ‘ परिणामात् ’ इति वा पृथक्सूत्रम् । तस्यैषोऽर्थः— इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मण एव विकारात्मना च परिणामः सामानाधिकरण्येनाम्नायते ‘ सच्च लब्धाभवन्निरुक्तं चानिरुक्तं च ’ इत्यादिनेति ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्म योनिरित्यापि पठ्यते वेदान्तेषु—‘ कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ’ इति ‘ यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ’ इति च । योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनसमधिगतो लोके—‘ पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनाम् ’ इति । स्त्रीयोनेरप्यस्त्येवावयवद्वारेण गर्भं प्रत्युपादानकारणत्वम् । क्वचित्स्थानवचनोऽपि योनिशब्दो दृष्टः ‘ योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि ’ इति । वाक्यशेषात्त्वव प्रकृतिवचनता परिगृह्यते—‘ यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च ’ इत्येवंजातीयकान् । तदेवं प्रकृतित्वं ब्रह्मणः प्रसिद्धम् । यत्पुनरिदमुक्तम्, ईक्षापूर्वकं

कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु लोके दृष्टम्, नोपादाने-
ष्वित्यादि, तत्प्रत्युच्यते— न लोकवदिह भवितव्यम्; न
हायमनुमानगम्योऽर्थः; शब्दगम्यत्वान्वस्यार्थस्य यथाशब्दमि-
ह भवितव्यम्; शब्दश्चेत्श्रितुरीश्वरस्य प्रकृतित्वं प्रतिपादयतीत्य-
वोचाम । पुनश्चैतत्सर्वं विस्तरेण प्रतिवक्ष्यामः ॥

एतेन सर्वे व्याख्याता व्या-

ख्याताः ॥ २८ ॥

‘ईश्वतेर्नाशब्दम्’ इत्यारभ्य प्रधानकारणवादः सूत्रैरेव
पुनः पुनराशङ्क्य निराकृतः—तस्य हि पक्षस्योपोद्बलकानि
८. सर्वव्याख्याना- कानिचिल्लिङ्गाभासानि वेदान्तेष्वापातेन म-
धिकरणम् । नन्दमतीन्प्रति भान्तीति; स च कार्यकारणा-
नन्यत्वाभ्युपगमात्प्रत्यासन्नो वेदान्तवादस्य देवलप्रभृतिभिश्च
कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वश्रितः, तेन तत्प्रतिषेधे एव यत्नो-
ऽतीव कृतः; नाणवादिकारणवादप्रतिषेधे; तेऽपि तु ब्रह्म-
कारणवादपक्षस्य प्रतिपक्षत्वात्प्रतिषेद्धव्याः; तेषामप्युपोद्ब-
लकं वैदिकं किंचिल्लिङ्गमापातेन मन्दमतीन्प्रति भायादिति—
अतः प्रधानमल्लनिवर्हणन्यायेनातिदिशति— एतेन प्रधानका-
रणवादप्रतिषेधन्यायकलापेन सर्वेऽण्वादिकारणवादा अपि